मानस-मन्दाकिनी

(प्रथम खण्ड)

लेखक —

श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र'

प्रकाशन-विभाग

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,

मथुरा—२८१००१

वन्दे वाणीविनायकौ

वर्णानार्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।।

'तुम मेरे समीप किस आकांक्षासे उपस्थित हुए हो वत्स !' भगवान् ब्रह्माने मनुसे पूछा । वे अपने कमलपर एकाग्र बैठे थे । अनेक प्रकारके साँचोंका ढेर लगा था । उनकी इच्छा ही साँचे बनाती, उसमें प्राणीका सृजन करती और साँचा तोड़ देती । एक साँचा दूसरी बार काममें नहीं आता था । यों पितामह स्वतः परमपुरुषके चिन्तनमें लीन थे ।

'तुम्हारी प्रार्थनापर मुझपर अनुग्रह करके भगवान् वाराहने पृथ्वीका उद्धार कर दिया । श्वेत-वाराह कल्पमें और हो भी क्या सकता है । अब तुम सृष्टि करो ! तुम्हें अपने कर्तव्य-पालनमें क्या बाधा पड़ रही है ?' अप्सराएँ नृत्य कर रहीं थीं, गन्धर्व एवं किन्नर गान-नाट्यके द्वारा पितामहकी आराधना कर रहे थे । ऋषिगण वेदवाणीसे उस स्रष्टाके स्तवनमें लगे थे । स्रष्टाका ध्यान भूलोकसे आये अपनी सर्वश्रेष्ठ कृतिके प्रथम पुरुषकी ओर था ।

'प्रभु, मेरे ये मूक पुत्र !' मनुका कण्ठ भर गया । मानवने अभी तक वाणी नहीं पायी थी । 'ऋषिगणोंको छोड़कर वेदवाणी किसीपर प्रकट होती नहीं । दूसरोंमें

अधिकांश अधिकारी नहीं, और जो हैं भी उनसे मात्रा स्वरादि भङ्ग होनेपर अनर्थका भय है। पशु-जैसी अव्यक्त भाषा एवं मूक सङ्केतोंके द्वारा मेरी सन्तति किस प्रकार आत्म-विकास करेगी और कैसे वह सर्वेशकी महत्ताको व्यक्त करेगी जिसके लिए ही उसका सृजन है ?' दोनों हाथ जोड़कर मनुने मस्तक झुकाया।

'खिन्न मत हो वत्स !' आश्वासन देकर स्रष्टाने तनिक गर्दन मोड़कर पीछे देखा। चन्द्रोज्ज्वल कान्तिको कर्पूर-गौर वस्त्रोंसे आच्छादित किये, करसे श्वेत रत्नदण्ड जटित मयूखमञ्जु चँवर लिये श्वेतपद्मासना कलाकी अधिष्ठात्री मन्द मृदु मुस्कानसे खड़ी थीं।

मनुको सङ्केत समझनेमें विलम्ब नहीं हुआ। उन्होंने स्रष्टाको दक्षिण करके उनके पृष्ठभागमें स्थित भगवतीके पादपद्मोंमें अपने किरीटके साथ ही नेत्रोंके भावोज्ज्वल मुक्ता उत्सर्ग किये।

'शुभं भूयात्' विश्वका सम्पूर्ण सङ्गीत जैसे घनीभूत होकर मुखरित हो उठा हो। हंसने अपने पङ्ख फड़फड़ाये। वह आनन्दातिरेकसे नाच उठा और फुदककर समीप आ गया। भगवती सावित्रीने बृहती वीणा उठाकर समर्पित की। चँवर लेकर श्रीस्फटिकमालिका उन करोंमें सावित्रीने ही दिया।

सम्मुख आकर वह चन्द्रोज्ज्वल मस्तक ब्रह्माके श्रीचरणोंमें नत हुआ। दक्षिण कर उठाकर पितामहने आशीर्वाद देते हुए कहा—'वत्से ! मानव मेरी सृष्टि

कृति है। सुरासुरका सम्पूर्ण कौशल उसमें एकत्र होकर ही पूर्ण होगा!' स्वीकृतिसूचक भङ्गीसे मस्तक झुकाकर भगवतीने हंसारोहण किया।

(२)

'ये इतने वर्ण, माता! मानवकी आयु है कितनी और उसकी स्मृति भी कितनी तुच्छ है?' मनुने कहा। 'केवल कुछ सहस्र वर्ष और अन्तमें उसे शतायु भी नहीं रहना है! यदि अभिव्यक्तिके साधनमें ही उसे अधिक समय व्यय करना होगा तो वह इनके द्वारा कौन-सा महत्वपूर्ण कार्य करेगा?'

प्रत्येक वस्तुके लिए एक शब्द सङ्केत था। इस प्रकार वर्णोंका बाहुल्य हो गया। अक्षर (लिपि-संकेत) के रूपमें यह अब तक चीनमें चला आ रहा है।

स्फटिकके उज्ज्वल मन्दिरमें पूर्णेन्दुकी धवल ज्योत्स्नासे स्नान विकच कुमुदिनीके आसनपर भगवती वीणापाणि विराजमान थीं। हंस उनकी पाद-पीठ बन रहा था। मनु सम्मुख करबद्ध उपस्थित थे।

'भगवान् शङ्करके डमरू-नादसे निकले चतुर्दश माहेश्वरसूत्रोंके वर्ण ही तब तुम्हारे वर्ण रहें?' शारदाने अपनी प्रथम कृतिका संस्कार किया। 'ये प्रथम निर्मित वर्ण अब धातु कहे जावेंगे! इनमें एक-एक धातुके अनेक अनेक अर्थ होंगे! इस प्रकार मानवको अन्तःकरणके उद्देश्यको व्यक्त करनेमें श्रम कम होगा।' सरस्वती द्वारा संस्कार प्राप्त करके संस्कृत-वाणीका उदय हुआ।

'इसमें रुचि क्यों हो ?' अन्ततः एकवर्षार्धके उपरान्त मनु पुनः उस स्फटिक मन्दिरमें उपस्थित हुए। 'मानव केवल दैनिक व्यवहारके लिए वर्णोंका उपयोग करता है। अपने हृदयके आनन्द एवं मस्तिष्कके कौशलको व्यक्त करनेके लिए तो वह कभी पाषाण काटता है और कभी काष्ठ। क्या सामूहिक रूपसे वह अपने आपको व्यक्त नहीं कर सकेगा !'

आहार-व्यवहारके अतिरिक्त वाणीका उपयोग नहीं होता था। अङ्कनके लिए तब चित्रलिपि थी। पाषाण एवं काण्ठोंपर चित्रोंके द्वारा मनुष्य अपनी कला एवं प्रतिभाको प्रकट किया करता था।

'परमपुरुष जो सर्वत्र व्यापक हैं, एक हैं !' भगवती वीणापाणिने कहा—'आनन्द उन्हींका स्वरूप है। अतः आनन्दोल्लासमें ऐकान्तिकता स्वाभाविक है। हृदयका सम्पूर्ण प्राकट्य एवं प्रतिभाका सूक्ष्म प्रस्तार तो सदा एकान्तमें ही होगा। भले ही पीछे वह समाजके उपयोगमें आवे। किसी भी भावकी पूर्णतामें बाह्यकी विस्मृति अनिवार्य है।'

'तब क्या भगवतीकी यह सृष्टि नीरस व्यवहारके लिए ही है ?' खिन्न स्वरमें मनुने पूछा।

'ऐसा नहीं !' वीणापर वे कुन्द कोमल अँगुलियाँ घूम गयीं। तारोंकी झंकृतिके माधुर्यमें सचराचर झूम उठा। जब वह मादक स्वर रुका, मानवने देखा, वर्णोंकी अभिव्यक्ति अत्यन्त रसमय है। उनके उपयोगमें हृदयको

स्पर्श करनेकी अद्‌भुत शक्ति है। भोजपत्र एवं ताड़पत्रपर मानवकी लेखनी उसके द्वारा अपने अन्तरके रसको अमरत्व देने लगी। लिपिमें वर्ण आ गये।

'मनु ! मुझे एक वर्ष हो गये ब्रह्मलोकसे वसुन्धरापर आये !' श्री शारदाने एक दिन प्रस्थानका विचार करके कहा—'अब तो तुम्हें अपनी सन्तानोंके विकासका साधन प्राप्त हो गया और वह सरस आकर्षक भी है ?'

'क्षत्रियके नाते मैं केवल तीन वर माँग सकता था और मुझे प्राप्त हो गये।' मनुने साञ्जलि गद्‌गद कण्ठसे कहा—'किन्तु मातः, पुत्रकी प्रार्थनाओंकी तो कोई इति नहीं होती !'

'माँगो वत्स !' वे वरदायिनी वात्सल्यविभोर होकर बोलीं !

'इन वर्णोंमें यदि वीणाके तारोंकी झंकृति भी आ बैठती ! उस दिनका वह स्वर सङ्गीत मनुके कानोंमें अभी तक गूँज रहा था और वे उसे अपनी सन्तानोंको प्रदान करना चाहते थे।

'वह भी होगा !' भगवतीने कहा—'उसके लिए तुम्हें प्रतीक्षा करनी होगी। त्रेतामें एक अधिकारी महर्षि होंगे और उनके मुखसे इन वर्णोंमें मैं सङ्गीतको व्यक्त करूँगी।' हंसने पंख फैलाये और मनुके देखते-देखते वह श्वेत-मूर्ति नील-गगनमें अंतर्हित हो गयी और त्रेतामें आदि कविके उद्भव तक मानवको वर्णोंमें सङ्गीत (छंद) प्राप्त करनेके लिए प्रतीक्षा करना पड़ा।

'मनुष्य अपने कर्तव्य-पथपर आरूढ़ होते हुए भी आज आनन्दका अनुभव नहीं कर रहा है!' मनुने जगत्स्रष्टासे कहा—'उसकी सारी सफलताएँ नीरस हैं और उनमें उसे श्रान्तिके अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं हो रहा है।'

प्रवृत्तिमार्गके प्रवर्तक आदिनरेशने यह अनुभव कर लिया था कि यदि व्यवहार केवल श्रम-मात्र रहा तो लोग उसे छोड़ बैठेंगे और यदि सभी विरक्त हो गये तो संसारका चक्र चलनेसे रहा। अतः वे पहुँच गये थे आशुतोष भगवान् शङ्करके कैलाशमें।

उच्च हिमशृङ्गोंसे आवृत उस गिरिराट्के मुकुटपर विशाल वटवृक्ष नीलम किरीटके समान सुशोभित था। उसीके मूलमें भगवान् शिव जगज्जननी उमाके साथ व्याघ्राम्बरपर आसीन थे। सचल हिमालय सदृश श्वेत उत्तुङ्ग वृषभ समीप ही पागुर कर रहा था और बैठा-बैठा ऊँघ-सा रहा था। निकट ही तुन्दिल शङ्कर-सुवन अपने मूषकपर हाथ घुमा रहे थे और वह स्वामि कार्तिकेयके मयूरसे भीत होकर दुबका जा रहा था।

'मानवने विघ्नोंको पराभूत तो किया, किन्तु इससे उसे कोई सुख नहीं हुआ।' मनुने कहा—'सभी गृहिणियों-को गृहस्वामिनी बनाकर तपोवनकी ओर उन्मुख हैं।'

'ठीक तो है।' उस शाश्वत तपस्वीने गम्भीर स्वरमें कहा—'विषयोंसे पराङ्मुख होकर परमात्म तत्त्वकी उपलब्धि ही तो जीवका परम कल्याण है। उस ओर

प्रवृत्तिका होना तो शुभ लक्षण है।' योगीश्वर, सम्पूर्ण साधन मार्गोंके प्रवर्तक तथा विरक्तोंके परमादर्शसे कोई दूसरे उत्तरकी आशा कैसे कर सकता है।

'क्या व्यवहारमें संलग्न रहते उस निःश्रेयस्की उपलब्धि अशक्य है?' निर्वर्ण मनुने पूछा—'आदरणीय विरक्तोंकी सेवाके लिए गृह-लग्न पुरुषोंकी आवश्यकता है और सृष्टिके प्रारम्भमें ही इस प्रकार आत्यन्तिक प्रलय सार्वभौम रूपसे उपस्थित होना क्या प्रभुको अभिप्रेत है।'

'तुम क्या चाहते हो?' दयामती द्रवित हुईं। वे जानती थीं कि उनके औढरदानी माँगनेपर तो सब दे देंगे; किन्तु उन असंगको न तो कुछ अभिप्रेत है और न अनभिप्रेत। मनुको इस मार्गसे निराशा ही हाथ लगेगी।

'मानव अपने व्यवहारोंमें सुख पावे!' मनुने कहा—'अपनी सफलताओंमें उसे आनन्दका अनुभव हो! इहलौकिक उन्नतिके साथ वह पारलौकिक उन्नति करे। उसे मङ्गलकी उपलब्धि हो जीवनमें। परम मङ्गल भी वह इसी मार्गके द्वारा प्राप्त कर सके!'

'गणपति!' माताका आह्वान सुनकर उन एक-रदनने समझा, अब मोदक मिलेगा। अतः चूहेको थपथपा कर वे पैदल ही दौड़े और सीधे गोदमें जाकर बैठ गये।

'मानव अपने जीवनमें, अपने कर्मोंमें सुख चाहता है, मङ्गल चाहता है'; अपने मुखकी ओर देखते पुत्रके मस्तक-पर हाथ फेरते हुए माताने कहा—'ये वैवस्वत मनु तुमसे

अपनी सन्तानोंके लिए यही प्रार्थना करने आये हैं।' मनुने उन मङ्गलमूर्तिके चरणोंमें मस्तक रक्खा।

'माँ! मानव बड़े अहङ्कारी हैं?' श्रीगणेशजीने अभियोग उपस्थित किया। देवता भी मेरी अग्र-पूजा करते हैं, पर मानव मानते ही नहीं। वे तो इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम और मरुतसे ही सब कुछ चाहते हैं।'

बात सच थी। आर्य तब तक वैदिक पञ्चदेवोंके उपासक थे और गणेशको वे विघ्नकर्ताओंके स्वामीके रूपमें ही मानते थे। मनुने हाथ जोड़कर इस प्रकार मस्तक झुकाया मानो क्षमा चाहते हों।

'मैं मानता हूँ कि मानवने मेरे लगभग सभी विघ्नोंको पराजित करके सफलता प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया है और वे सफल हो रहे हैं!' कुछ रोषपूर्वक गणेशजी सूँड फटकारते हुए कह रहे थे—'किन्तु इससे उन्हें मिलेगा क्या? कोरी सफलता ही तो? सुखानुभव तो वे पानेसे रहे!'

'नहीं पुत्र!' पुचकारते हुए माताने कहा—'ये मनु अपने अज्ञ-पुत्रोंकी ओरसे क्षमा माँग रहे हैं! अब तुम इनपर दया करो!' मनुने गणेशजीके चरण पकड़े। भगवान् शिव वार्तालापसे तटस्थ हो समाधिस्थ हो गये थे।

'अच्छा तो चलो!' माताकी क्रोड़से उतरकर गणपतिने दोनों कान वेगपूर्वक फटफटाये। संसारमें मानवोंने

उसी समय अनुभव किया कि जिन बाधाओंके आनेकी पूरी सम्भावना थी तथा जो सम्मुख ही उपस्थित थीं, सब सहसा तिरोहित हो गयीं।

मनुके आदेशसे मनुपुत्रोंने प्रत्येक कार्यारम्भमें विनायकका पूजन प्रारम्भ किया। सफलता सम्मुख उपस्थितप्राय रहने लगी और जीवनमें सुख ही सुख उपलब्ध होने लगा। तभीसे प्रवृत्ति मार्गकी नींव सुस्थिर हुई।

भवानीशङ्करौ वन्दे

भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

सरस्वतीके सौम्य उपकूलमें, सामगानसे मुखरित यज्ञ-धूम-धूसर-पत्रावली-मण्डित कालकी क्रोड़ीमें जहां विगत रोष-कषाय केशरी-शावक एवं मृग-शिशु सहक्रीडन किया करते थे, कलित कुसुमितवल्ली निकुंजमें पूर्वाभिमुख कुशाच्छादित वेदिकापर महर्षि जैमिनी एक मृगचर्म वल्कल डाले आसीन थे ।

ब्राह्म, आवहनीय एवं गार्हस्पत्य अग्नियोंके विधि-विहित आकार निर्मित कुण्डोंसे सुगन्धित धूम उठ रहा था । सुदूर दक्षिणमें अश्वत्थके नीचे अस्पृश्यकी भांति एकाकी दक्षिणाग्निका कुण्ड दहकता हुआ दूसरोंके गौरव-पर अपनी चट्-चट् ध्वनिसे अट्टहास कर रहा था ।

यज्ञशालामें नवग्रह, सर्वतोभद्र प्रभृति वेदियां रंगीन अक्षत, तिल आदिसे निर्मित अद्भुत दृश्य उपस्थित कर रही थीं । दिक्पालोंके कलश पुष्पमाल्यसे पूजित थे तथा उनपर दीपक जगमगा रहे थे । ऊर्ध्वमुखोत्थित पीताभ यवांकुरोंके अग्रभाग कुछ हरीतिमा ले चले थे । ईशान कोणकी पताका विजन काननके श्रांत, पथिकको आश्रय-

नारिकेलके पात्रमें आज्य प्रस्तुत था। हवि विधान-पूर्वक निर्मित हो चुकी थी। कदली पत्रोंपर अगुरु, अक्षत, माल्य तथा फलादि सभी उपयुक्त सामग्रियाँ सुसज्जित थीं। पञ्चकाष्ठ समिधा शिष्योंने एकत्र करली थी और अब तो दिक्पालादि पूजनके पश्चात् वेदध्वनिके मध्य अरणि-मन्थन चल रहा था।

गौरवर्ण, कृशकाय, श्वेत-श्मश्रु-रोम-जटाजाल, सुदीर्घ भुज-वक्ष-भाल, वाम हस्तमें कुशका ब्रह्मदण्ड एवं दक्षिणमें स्रुवा लिये, कृष्णाजिनोत्तरीय, मौंजी-मेखला-धृत तेजोमय महर्षि जैमिनी साकार अग्नि प्रतीत हो रहे थे।

कर्मशास्त्रके प्रणेताने स्वयं आज दीक्षा ली थी। विघ्न उनके नामसे ही काँप उठते हैं। किसी देवतामें शक्ति नहीं जो उनके आवाहनपर अपने स्थानपर बना रहे। सम्पूर्ण सिद्धियाँ उनके सम्मुख करवद्ध खड़ी रहती हैं। प्रकृतिके तात्त्विक रहस्योंको उन्होंने आविष्कृत किया है। उन्होंने पदार्थों, क्रियाओं एवं मन्त्रोंकी सूक्ष्म कम्पन शक्तिको जान लिया है। अतः उनके यज्ञ कभी असफल होंगे, ऐसा हो नहीं सकता। वे प्रकृतिपर शासन करनेमें समर्थ हैं।

शिष्य-वृन्द परिचर्यामें प्रवीण था। सभी सम्मान्य ऋषि आहूत होकर पधारे थे। जिन तपःपूतोंके सङ्कल्प ही कभी व्यर्थ नहीं होते, वे ही विधिपूर्वक कोई अनुष्ठान

आरम्भ करें तो सफलता करबद्ध खड़ी ही समझना चाहिये।

आवाहनसे प्रथम ही देवताओंने आकर अपने आसन ग्रहण कर लिये। कौन जाने आवाहनके समय पहुँचनेमें कुछ विलम्ब हो जाय और किसी महर्षिकी भृकुटिपर बल पड़ जाय तो? अथवा महर्षिके संकेतपर वह कृष्णाम्बरधारी दक्षिणाग्निके कुण्डपर सावधान बैठा उनका प्रधान शिष्य स्रुवा उठा ले तो? वह साक्षात् यमके समान दण्डधर बैठा है। उसका काम ही है यज्ञ-विघ्नों एवं यज्ञमें प्रमत्त होनेवालोंको अभिचार मन्त्रोंसे दण्ड देना। यह अथर्ववेदीय विप्रकुमार बड़ा भीषण है।

सिद्धियोंके आह्वानकी कोई आवश्यकता ही न थी। वे बेचारी तो इन आश्रमोंके छोटे-छोटे अन्तेवासियोंसे भी भीत रहती हैं। लोकपालोंने अपनी सेवाएँ महर्षिके श्रीचरणोंमें यज्ञारम्भमें ही निवेदित कर दी थीं। उन यावजूकके मन्त्रोंकी शक्तिसे विवश होकर करनेकी अपेक्षा स्वेच्छासे करके उनकी मैत्री क्यों न प्राप्त की जाय?

सुरेन्द्र चकित थे। अन्ततः महर्षि यज्ञ कर क्यों रहे हैं? वे इन्द्रासन चाहें तो उन्हें कौन निवारित कर सकेगा? विघ्न करनेकी तो कल्पना भी नहीं उठती। उनके संकेतपर तो उनके किसी छात्रके लिए भी महेन्द्र सिंहासन त्याग देंगे। ब्रह्मलोक उनकी पितृभूमि है। वहाँ जब चाहें तब वे सशरीर जा विराजें।

महर्षिके यज्ञके सङ्कल्पका पता सबको था; पर उसका स्पष्टार्थ कम-से-कम मीमांसकोंकी समझमें तो आया

न था। सङ्कल्प था—'अन्तस्थस्य अवलोकनार्थम्।' इस विचित्र यज्ञोद्देशके लिए यज्ञकी पूरी प्रक्रियाका निर्देश स्वयं महर्षिने किया था। उन्होंने ही मन्त्र निश्चित किये, पद्धति निश्चितकी और होता, ऋत्विक्को प्रथम शिक्षित किया। सब कुछ पर्याप्त हो जानेपर आज उन्होंने दीक्षा ली।

मीमांसा शास्त्र कर्मको ही ईश्वर मानता है। वहाँ कोई विशेष जगत्-संचालक है नहीं। श्रुतियोंका भौतिक दृष्टिकोणसे अध्ययन करके महर्षि इसी तथ्यपर पहुँचता था। कर्मफलके प्रदाता देवता तो प्रत्यक्ष थे; किन्तु वे कर्मानुसार फल देनेको बाध्य नियन्त्रक मात्र।

पितामह ब्रह्माने अपने भीतर ही सम्पूर्ण सृष्टि एवं उसके कर्ता, धर्ता, हर्ता सर्वेशका साक्षात्कार करके उनके आदेशानुसार ही—'यथापूर्व' सृष्टि प्रारम्भ की। यह श्रुति भी स्वीकार करती है और ब्रह्माको मिथ्याभाषी भी कहा नहीं जा सकता। महर्षि जैमिनी इसी उलझनको सुलझाना चाहते थे। उन्होंने उस अन्तस्थको प्रत्यक्ष करनेका निश्चय किया। यज्ञ ही उनका साधन था।

[२]

'वरं ब्रूहि!' हंसस्थ पितामह ब्रह्माजीने कहा। अपने अरुण परिधानमें श्वेत हंसपर विराजमान नील गगनमें वे कुवलय दलपर, जो मानसरोवरमें विकसित हो, पद्मराग-जैसे प्रतिष्ठित थे।

महर्षिको यह नवीन अनुभव हुआ कि यज्ञके द्वारा त्रिदेवोंको तुष्टकर अभीष्ट वर भी प्राप्त किया जा सकता है। अभी तक उनके यज्ञ सङ्कल्प-विशेषके प्रदाता थे। कर्मान्तमें सङ्कल्पके बिना ही स्वेच्छापूर्ति—यह नवीन बात हुई।

अग्निके साथ सम्पूर्ण ऋषि-मण्डलीने पितामहको प्रोत्थान दिया। महर्षिने अर्घ्य-पाद्यसे उनका विधिवत् अर्चन किया। प्रथमसे प्रस्तुत आसनको कृतार्थ करनेका ऋषियोंका आग्रह सार्थक हुआ।

'मैं उसी अन्तस्थका साक्षात् करना चाहता हूँ, जिसके दिव्य-दर्शन प्रभुको सृष्टिके प्रारम्भ कालमें हुए थे!' महर्षिने पूजा ग्रहण करके विराजमान ब्रह्माजीके श्रीचरणोंको दोनों करोंमें लेकर निवेदन किया।

'यह तो मेरी शक्तिसे परेका कार्य है।' पितामहने कहा—'मेरी प्रसन्नताका फल होना ही चाहिये, अतः तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण होगा, किन्तु उसकी प्राप्तिके लिए तुम साम्बशिवकी शरण लो!' परोक्ष वेदवाणीके आद्याचार्य भला स्पष्ट कब कहनेवाले थे। अपने हंसकी पीठ थपथपाकर वे उसपर बैठ गये। सृष्टिके महान् कलाकारको अवकाश कहाँ?

'त्र्यम्बकं यजामहे' आहुतियोंके मन्त्र बदल दिये गये। वही यज्ञ शाम्भव बन गया। महर्षियोंकी मन्त्र-ध्वनि उस तपोवनको गुञ्जित करती हिमगिरिके एक शिखरसे दूसरेको पार करती कैलाश पहुँचने लगी।

नन्दीको व्याघ्राम्बर डालते देखकर जगदम्बाने विश्वनाथसे पूछा।

'सरस्वतीके तटपर जैमिनी यज्ञमें मेरा आह्वान कर रहे हैं!' प्रभुने कहा—'पर मैं एकाकी कहाँ जा रहा हूँ? तुम भी तो चल रही हो!'

'आप भी देवताओंकी भाँति मन्त्राकर्षणसे विवश हैं?' मन्त्रात्मक प्रार्थना भवानीके चरणोंमें भी पहुँच रही थी, किन्तु उन्होंने उसकी उपेक्षा कर दी थी।

'कोई भी क्रिया मुझे विवश नहीं करती।' उस परात्पर प्रभुने कहा—'स्रष्टाने महर्षियोंको वचन दिया है और किसीभी प्रकार हो, ये भोले प्राणी मेरा स्मरण तो कर रहे हैं। आओ, तुम भी वृषभपर ही चलो! तुम्हारा केशरी विश्राम करे!' आशुतोष द्रवित हो चुके थे।

वृषभके घण्टेसे निकली हुई प्रणव ध्वनिने सम्पूर्ण मन्त्रघोषको तिरोहित कर लिया। तपोवन एक अद्भुत सुरभिसे परिपूर्ण हो गया। चकित यज्ञीय विप्रोंने मस्तक उठाया और उन्हें वृषारूढ़ अर्धनारीश्वरके दर्शन हुए। भालस्थित बालशशिकी कोमल किरणोंसे स्नात ऋषियोंका सम्पूर्ण क्लम तत्काल तिरोहित हो गया।

पुरुष सूक्तकी सस्वर स्तुतिसे साम्बशिव सन्तुष्ट हुए। उन्होंने आसन तो ग्रहण नहीं किया, किन्तु अर्चन स्वीकार कर लिया। महर्षि जैमिनीने अपनेको कृतकृत्य समझकर बड़े ही कोमल शब्दोंमें अपना उद्देश्य निवेदित किया।

'जो सर्वात्मा है, सर्वरूप है, उसके दर्शन किया ? वही तो यज्ञ पुरुष है।' काशीपति प्रभुने कहा—'तुम उस यज्ञेशको जानते नहीं ? यह यज्ञ उसीका तो स्वरूप है। अच्छा, उसका आह्वान करो !'

'यज्ञो वै विष्णु' महर्षिने पढ़ा तो था श्रुतिमें, पर वे उसका अर्थ करते थे—'यज्ञ ही व्यापक है।' आज उन्होंने यज्ञेशका पता पाया। भगवान शङ्करके आदेशानुसार यज्ञ-पुरुषके निमित्त आहुतियाँ पड़ने लगीं। था तो यह बहाना ही, वैसे तो भगवान शिवका प्रेमपूर्ण सङ्कल्प ही पर्याप्त था।

भोले बाबाने अपने भुजङ्गोंको कर-स्पर्शसे आश्वस्त किया। ऋषियोंके नेत्र एक बार बन्द हो गये। बड़ी कठिनतासे पलकोंको खोलनेमें समर्थ होनेपर एक गरुड़-स्थित, पीतवास, घनश्याम, वनमाली, चतुर्भुज नील ज्योतिका साक्षात् हुआ। उस सायुध, साभरण मूर्तिके सम्मुख नेत्र ठहरते नहीं थे।

महर्षि जैमिनी आनन्द-विभोर हो गये थे। अर्चनकी स्मृति भी रही नहीं थी। अपनेको ऐसी प्रेमाविष्ट स्थितिमें उन कर्मठने कभी पाया नहीं था। सावधान होकर अर्चनोपक्रम करें, तब तक तो वह मनोहारी अदृश्य हो गया। महर्षि खिन्न होकर मूर्छित हो गये।

[३]

'कर्म करो और उसका फल पाओ !' आश्वस्त मीमांसाकारसे भगवान शङ्करने कहा—'यही तो तुम्हारा सिद्धान्त है ?'

'अब तक तो मैं यही समझ सका हूँ।' महर्षिने स्वीकार किया।

'विश्वात्मा तो कोई फल है नहीं!' अध्यात्म शास्त्रके परम प्रवर्तकने बतलाया—'फिर उसे तुम कर्मके द्वारा कैसे प्राप्त कर सकते हो? उसका बाह्य साक्षात् भी यज्ञका फल नहीं है। वह है भगवान ब्रह्माके वरदान एवं मेरे दर्शनका परिणाम।'

'पितामहने कहा था कि जगदम्बाके साथ आपका साक्षात् करके मैं उस आत्मस्थको उपलब्ध कर सकूँगा।' दो क्षण सोचकर महर्षिने आवेदन किया।

'स्रष्टाके परोक्ष वचनोंको तुमने समझा नहीं।' श्रुतियोंके रहस्यके उद्घाटनका गर्व शमित करते हुए गिरीशने कहा—'बाह्यके द्वारा बाह्यकी एवं अन्तस्थके द्वारा अन्तस्थकी उपलब्धि होती है। मेरे व्यक्त-स्वरूपकी आराधना करके तुमने व्यक्त यज्ञेशके दर्शनकर लिये। व्यक्तकी उपलब्धि अधिकारानुसार कालनियन्त्रित ही होगी। नित्योपलब्धि तो अन्तःकरणमें ही शक्य है।' भगवान शिवने वृषभकी पीठपर थपकी दी और वह कैलाशकी ओर मुड़ चला।

'साम्बशिवकी शरण लो!' ब्रह्माजीके वाक्यको लेकर महर्षि एकाग्र हो गये। श्रुतियोंके अर्थका दर्शन उन्हें इसी पद्धतिसे हुआ था। इस परोक्षको प्रत्यक्ष करनेका दूसरा मार्ग था भी नहीं।

'यज्ञकी पूर्णाहुति कर दी जावे!' एक प्रहर ध्यानस्थ रहनेके पश्चात् महर्षि उत्थित हुए। उनके मुखपर

शान्ति विराजमान थी। पूर्णाहुती हो गयी और सबने अवभृथ स्नान किया। ऋषि-मण्डली विदा कर दी गयी।

'इहलोक एवं परलोककी समस्त विभूतियाँ कर्माधीन हैं। महर्षि जैमिनीने कहा—'कर्म ही उभय लोकोंका कर्त्ता हैं। कर्मके द्वारा तुम उसे निश्चय उपलब्ध कर सकते हो।' शिष्य वर्ग शान्त सुन रहा था।

'इससे परे भी कुछ है या नहीं, कह नहीं सकता।' महर्षिने कहा—'पितामह कहते हैं और श्रुति साक्षी है कि कुछ है अवश्य। वह अन्वेषणसे परे है। यज्ञ उसे प्रदान नहीं कर सकते। उसपर श्रद्धा करना होता है। उसे मान लेना पड़ता है। विश्वासके पश्चात् उपलब्ध होता है।'

शिष्योंको ऐसी शिक्षा मिली नहीं थी। वे चकित हो रहे थे। लेकिन महर्षि कहते गये—'श्रद्धा ही शिव है और विश्वास ही शङ्कर हैं। इन आत्मस्थ सर्वात्माका साक्षात् हो सकता है। पितामहके गूढ़-वाक्योंका यही अर्थ है।'

शिष्योंको वहीं छोड़कर महर्षि जैमिनी सरस्वतीके किनारे-किनारे ही ऊपर बदरिकाश्रममें इस नवीन श्रद्धाविश्वासमय पथके आचार्य महर्षि व्यासका साक्षात् करने चल पड़े।

गुरुं शङ्कररूपिणम्

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥

'मनुष्य तो मनुष्य ही है। उसमें त्रुटि न हो, प्रमाद न हो, ऐसा शक्य नहीं।' उस विप्रकुमारने कहा।

'मनुष्य मनुष्य अवश्य है; किन्तु मनुष्यके लिए। शिष्यके लिए वह मनुष्य नहीं और देवता भी नहीं। उसके लिए वह नित्य निरन्तर जागरूक ज्ञान है। ऋषिने समझाया।

हाथमें बिल्वपत्र एवं अर्क पुष्पोंका दोना तथा सजल कमण्डलु लिये विप्रकुमार भगवान शङ्करकी आराधनाके लिए जारहा था। मार्गमें उसे ये एकत ऋषि मिल गये थे। वे भी मन्दिर ही जारहे थे, अतः दोनों साथ हो लिये।

'मैंने कोई भी अपराध किया नहीं था। मेरे प्रमादवश ग्रन्थ नष्ट भी नहीं हुआ। वह तो गुरु-पत्नीके करोंसे प्रदीप गिर जानेसे तेलरञ्जित हो गया था, फिर भी गुरुदेव मुझपर अकारण ही कुपित हो उठे।' विप्रकुमारने कहा।

'मैं कह चुका कि तुम्हें गुरुकी आलोचनाका पाप नहीं करना चाहिये।' ऋषिने समझाया—'शिष्यको

केवल इतना ही देखना चाहिये कि गुरु उसे बाह्य प्रवृत्तिमें प्रेरित तो नहीं करते। यदि ऐसा हो तो वह कोई दम्भी होगा—उसका त्याग कर दे। ऐसा नहीं है तो वह सचमुच गुरु हैं—शिष्यके लिए नित्य जागरूक ज्ञान। उनमें दोष न देखे!'

'क्रोध तो अज्ञानसे होता है।' ब्राह्मणकुमारने शङ्का की—'अकारण क्रोध जागरूक ज्ञानमें कैसे सम्भव है?'

'माताका रोष पुत्रके लिए अज्ञानजन्य नहीं होता।' ऋषिने कहा—'आश्रमकी वस्तुओं, विशेषतः ग्रन्थोंकी रक्षाका भार छात्रोंपर ही रहता है। तुम्हारा ही प्रमाद था कि ग्रन्थ ऐसे स्थानपर पड़ा रहा, जहाँ तैल-पतनकी आशङ्का थी।'

'यह तो मैंने स्वीकार किया।' विप्रकुमारने कहा—'किन्तु गुरु मानव नहीं हैं, उनमें साधारण मानवोचित दुर्बलताएँ नहीं हो सकतीं, यह बात हृदयमें बैठती नहीं।'

'ठीक ही है। स्वानुभवके बिना ऐसी बात हृदयङ्गम हो नहीं सकती।' ऋषिने गम्भीरतासे कहा—'जड़ पाषाण प्रतीकमें तो हम चिद्घन देवताकी भावना कर सकते हैं; किन्तु चेतन प्रत्यक्ष ज्ञानद प्रतीकमें वही भाव स्थिर नहीं होता।'

विप्रकुमारको यह युक्ति कुछ ठीक अवश्य प्रतीत हुई; पर वह इसे आत्मस्थ नहीं कर सकता। मन्दिर आ गया था। ऋषि मूर्तिको मस्तक झुकाकर प्राङ्गणके

एक कोनेमें बगलसे मृगचर्म निकालकर पद्मासनसे बैठकर ध्यान करने लगे और विप्रकुमारने मूर्तिका अर्चन किया।

जल, बिल्वपत्र, अर्क-पुष्पादि चढ़ाकर स्तुतिके पश्चात् अर्ध परिक्रमा करके ब्राह्मणकुमारने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और वह भी एक ओर जपमालिका लेकर गोमुखीमें हाथ डालकर बैठ गया।

[२]

'कल्याण हो!' ब्राह्मणकुमारने चौंककर नेत्र खोल दिये। वह ध्यानस्थ होगया था और उसे भगवान् शङ्करके हृदय-देशमें दर्शन हुए थे। उन्हींको प्रणाम करनेके लिए उसने मस्तक झुकाया था।। शब्दने उसे चौंका दिया।

सम्मुख चौड़ी कोरकी कौशेय धोती पहने, सुन्दर उत्तरीय धारण किये, ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाये गुरुदेवको देखकर वह उठ खड़ा हुआ। गुरुके अपमानका कुफल वह पा चुका था। उसे अपने पूर्वजन्मका स्मरण था और उस घटनाकी स्मृति रोमाञ्चित कर देती थी। उठकर उसने पुनः अभिवादन किया।

सम्भवतः गुरुदेव पूजन कर चुके थे। उनके हाथके पात्रमें एकाध छिन्न बिल्वपत्र तथा दो-तीन पुष्पोंकी पंखुड़ियाँ चिपकी रह गयी थीं। उन्होंने शिष्यको बैठ कर जप करनेका आदेश दिया और स्वयं भी एक ओर आसनपर जा विराजे।

'मैंने प्रणाम भगवान् शङ्करके लिए किया था!' ब्राह्मणकुमार सोच रहा था, पता नहीं, कब गुरुदेव सम्मुख उपस्थित होगये! भगवान्के निमित्त किया हुआ नमस्कार उन्होंने अपने लिए स्वीकार कर लिया। यह देवापराध हुआ। मुझे क्या करना चाहिये? चिन्तामग्न हो रहा था वह।

ॐ नमः शम्भवाय च मनोभवाय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥

गम्भीर ध्वनिने विप्रकुमारकी चिन्तनाको भङ्ग किया। वह इधर-उधर उस ध्वनिका उद्गम ढूँढने लगा। उसने देखा कि महर्षि एकत-का मुखमण्डल ज्योतिपूर्ण होगया है और अव्यक्त ध्वनि उनके समीप जानेपर बड़े प्रखर वेगसे मस्तिष्कमें गूँजने लगती है। सम्भवतः महर्षि अपने प्राणोंसे परावाणीमें इन मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे हैं।

तेजका आकर्षण अद्भुत था। वहाँसे लौट जाना विप्रकुमारके लिए शक्य नहीं रह गया। वहीं घुटनोंके बल बैठकर उसने उन मन्त्रोंकी सस्वर आवृत्ति प्रारम्भ की, क्योंकि वह ध्वनि ऐसा करनेके लिए उसे विवश कर रही थी। अपने मस्तिष्कमें जो गुञ्जार वह अनुभव कर रहा था, उसे मुखसे प्रकट किये बिना सह लेना सम्भव नहीं था।

'ब्रह्मचारी, उठो!' क्रमशः तेज कम हुआ और ध्वनि शान्त पड़ी। सम्भवतः ब्राह्मण-बालककी बाह्य

ध्वनि इस उत्थानमें कारण हुई । धीरे-धीरे नेत्रोंको खोलते हुए ऋषिने कहा—'आओ, नित्य ज्ञानघनके दर्शन करो।'

'नित्य बोधस्वरूप तो भगवान् शिव हैं!' विप्रकुमार गद्गद हो उठा। जीवनमें ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा, इसकी उसे कभी आशा नहीं थी। ऋषिकी कृपासे असम्भव क्या रहता है। वह उठकर खड़ा होगया।

गर्भगृहके भीतर जाकर ऋषि एक ओर खड़े हो गये। एक प्रकारकी अद्भुत शान्ति तो वहाँ थी; किन्तु और कुछ भी विशेषता नहीं थी। मध्यमें पुष्पदलपूजित भगवान् शङ्करकी मूर्ति और एक ओर आसन लगाये ध्यानस्थ गुरुदेव। ब्राह्मणकुमारने ऋषिके मुखकी ओर देखा।

'अभी भी तुम्हारी प्रकृति पूर्णत: परिवर्तित नहीं हुई है।' ऋषिने कहा—'अपने पूर्वकृत गुरुके अनादरका फल तुम भोग चुके हो। भगवान् शङ्करने तुम्हें श्रीराम-भक्ति प्राप्त करने का वरदान दिया है और वे स्वयं ही तुम्हारे अन्त:कालुष्यको मिटाकर अधिकारी बनानेका महदनुग्रह भी कर रहे हैं!'

'तब क्या मेरे इस गुरु रूपमें स्वयं....।' विप्रकुमार अपनी कल्पनासे स्वयं चौंक उठा।

'चौंकनेका कोई कारण नहीं !' ऋषिने कहा—'शिष्यके लिए गुरु नित्यबोधस्वरूप भगवान् शङ्करका स्वरूप, उनसे अभिन्न चल प्रतीक होता है।'

विप्रकुमारने देखा—गुरुदेवके मुखपर स्निग्ध मुस्कराहट झलक रही है। उनका उत्तरीय गजचर्मका है। कटिमें व्याघ्राम्बर है। गलेका यज्ञोपवीत कृष्ण भुजङ्गमें बदल गया है और भालपर ऊर्ध्वपुण्ड्र नहीं, वह तो तृतीय नेत्र है।

वह दौड़ा और उसने चाहा कि उनके उन ज्योतिर्मय अरुण चरणोंपर मस्तक रख दे; पर उसे निराशाने आकुल कर दिया। उसका मस्तक मन्दिरकी उज्ज्वल पाषाण-भूमिपर पड़ा। उसके गुरुदेव वहाँ नहीं थे।

'दुःखी मत हो वत्स !' पीछेसे ऋषिने कहा—'अब तुम्हारा आश्रमपर लौटना भी कोई अर्थ नहीं रखता। समय आ गया है, जब तुम श्रीरामचन्द्रके पावन चरणोंकी भक्ति प्राप्त करो ! अतः तुमको महर्षि लोमशके आश्रमको प्रस्थान करना चाहिये।'

ऋषि मुड़े और चले गये। विप्रकुमार उनसे महर्षि लोमशके आश्रमका पता भी नहीं पूछ सका। कुशल यही थी कि भगवान् शङ्करके वरदानसे उसकी सब कहीं अव्याहत गति थी। वहाँ से उठकर वह एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे मुनियोंके आश्रमोंमें भटकने लगा।

'नियमतः तत्काल उचितानुचितका विचार छोड़-कर आज्ञा पालन करना चाहिये। हम सबने इसे पूर्णतः पालन किया। यदि कुछ अनुचित प्रतीत हो तो आज्ञा-पालनके पश्चात् उसका समाधान कर लेना चाहिये और तभी अपनी आवश्यकता तथा असुविधा भी प्रकट करनी चाहिये। इस नियमके अनुसार हम अब औचित्य जानना चाहें तो अनुचित न होगा।' वृद्ध तोतेने विस्तार-पूर्वक कहा।

बात दो पक्षियों तक ही सीमित नहीं थी। सभी स्पष्टीकरण चाहते थे। सबको असन्तोष था। अब तक-की शान्तिका कारण केवल यह था कि वे कलहप्रिय नहीं थे और उनमें अपने वृद्ध अग्रणीके प्रति विश्वास था। यह पहला ही अवसर था जब नेताकी आज्ञामें उनकी त्रुटि जान पड़ती थी।

'आदर किसका किया जाता है और आदरणीयका निर्णय किन नियमोंसे होता है?' वृद्ध राजमरालने पूछा और एक क्षण रुककर उसने स्वयं कहना प्रारम्भ किया— 'साधारण दशामें आयुका आदर होता है। समानवर्णी अपनेसे अधिक आयुके प्रति आदर प्रकट करते हैं? गुण-

के आधिक्यमें आयु गौण हो जाती है और वृद्ध भी गुणी युवाका आदर करते हैं। यदि गुण कोई आत्यन्तिक विशेषता न रखता हो तो वर्णका आदर होता है। वृद्ध एवं शिक्षित बक भी मराल शिशुका सम्मान करते हैं। इस प्रकार तेज, वुद्धि एवं लक्ष्मी भी आदरका कारण होती है।'

'उस म्लेच्छजातीय काकमें आपने ऐसी क्या विशेषता देखी जो हम सबको उसे प्रोत्थान एवं उच्चासन देना पड़ा?' एक तरुण मरालने रोषपूर्ण स्वरमें कहा।

'आप लोग एक ब्राह्मकुमारका अपमान कर रहे हैं!' राजमरालने चेतावनी दी। 'महर्षि लोमशके शापसे उनका शरीर-परिवर्तन हो गया है। वैसे उन्हें स्वेच्छया शरीर धारण करनेकी शक्ति भी महर्षिने दे दी है; किन्तु पक्षी-जातिपर उनका यह अनुग्रह है कि उन्होंने हमारे सबसे तुच्छ शरीरको स्वीकार करके हमें गौरवान्वित किया है!'

काकभुशुण्डिको प्रोत्थान देनेके कारण पक्षियोंमें जो रोष जागृत हो गया था, वह शान्त हो गया। अपने नायककी दूरदर्शिताके सम्मुख उन्होंने मस्तक झुकाया।

'उन्होंने यहाँसे समीप ही आश्रम बनाया है।' राजमरालने कहा—'उनके आश्रमके दर्शन होते ही मायाका प्रभाव लुप्त हो जाता है। नियमित रूपसे अब

वहाँ भगवान् श्रीरामकी कथा हुआ करेगी। अत: आपमें-से जो भी चलना चाहें, मेरे साथ चलें ?'

पक्षियोंको और काम था भी क्या ? उस समय आज-जैसे फल दुर्लभ नहीं थे। क्षुधानिवृत्तिके लिए प्रत्येक डाली उनके लिए सज्जित थाल थी। सरिता एवं निर्झरोंमें पर्याप्त सुधा-सलिल प्रवाहित होता था। चारा-चुग्गा लानेकी चिन्ता थी नहीं। सबने एक साथ चलनेका निश्चय किया और फर्र करके उड़ चले।

वटवृक्षके नीचे एक विस्तृत वेदिकापर मध्यमें काकभुशुण्डि बैठे थे। मानसरोवरसे वृद्ध हंसोंका समुदाय प्रथम ही आ गया था। कुछ और पक्षी भी आ विराजे थे। इस नवजात समुदायके लिए पर्याप्त स्थान था। पीछेकी ओर बैठ गये। वृक्षपर किसीका भी बैठना अनुचित था; क्योंकि स्वयं वक्ता वेदिकापर नीचे बैठे थे।

सहसा पक्षियोंमें खलबली पड़ी। भुशुण्डिजी भी उठ खड़े हुए। सबने देखा कि पक्षिराज पधार रहे हैं। आते ही उन्होंने भुशुण्डिजीके चरणोंमें अभिवादन किया। यद्यपि इससे भुशुण्डिजीको बड़ा सङ्कोच हुआ। वे पक्षिराजका सत्कार करने लगे।

'श्रीहरिके साक्षात् वाहन श्रीगरुड़जी भी इन्हें अभिवादन करते हैं?' अवसर देखकर एक मरालने कहा।

'यों तो श्रीराम-भक्त सुरासुर सबसे पूज्य हैं ही, फिर श्रद्धा-पूर्वक जो भी गुरुको नित्य ज्ञानपूर्वक तथा साक्षात् शिव समझकर उनकी शरण लेता है, वह भी जगत्पूज्य हो जाता है। ये तो साक्षात् भगवान शङ्करके शिष्य हैं, जिनके ललाटपर पहुँचनेके कारण वक्र कलङ्की चन्द्रमा भी विश्ववन्द्य हो गया है। इनकी जातिकी ओर ध्यान देनेका अब किसीमें न तो साहस है और न किसीको अधिकार ही है।' वृद्धराज मरालने सबको धीरे-धीरे समझाया।

उन मरालोंको क्या पता था कि प्रश्नकर्ता बने मरालके वेशमें स्वयं भोले बाबा रामकथा सुनने पधारे हैं और भक्त-चर्चा चला रहे हैं।

—o—

विशुद्धविज्ञानौ

सीतारामगुण-ग्राम-पुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ।।

मन्द-मन्द गर्जना प्रारम्भ हो गयी थी। कभी-कभी दूर देशसे आयी चपलाकी मृदु चमक दिशाओंमें एक सूक्ष्म प्रकाश-रेखा खींच जाती थी। धूसर, धूम्रवर्ण मेघोंके स्तर एक-पर-एक बढ़ते जा रहे थे। पश्चिम क्षितिजपर कृष्णवर्ण बादलोंकी छाया घनीभूत हो उठी थी। चीलोंका समुदाय आनन्दपूर्वक दूर नभमें मण्डलाकार मँडरा रहा था।

पथिकने पैर बढ़ाये। यद्यपि मार्गमें पलाश-वृक्ष पर्याप्त थे और कुछ सघन भी थे, किन्तु उनसे बचनेकी आशा नहीं थी। वृष्टि तेज आती जान पड़ती थी। पथिकके पास पहननेके ही वस्त्र थे और छाता नहीं था। दूरपर मन्दिरका कलश वृक्षोंके झुरमुटसे दिखायी पड़ रहा था। वहाँ तक वर्षा आनेसे पहले पहुँच जाना चाहता था वह।

बीचमें एक-दो नाले पार करना सरल नहीं रहेगा। आसपास पलाशोंके अतिरिक्त उस ऊँची कंकरीली भूमिपर कुछ था नहीं। कहीं-कहीं घासके चकत्ते धब्बे-जैसे, कहीं एकाधी लता और कहीं-कहीं दो-चार चकवढ़के हरे वीरुध।

जूतेने पैरमें छाला डाल दिया था। अतः उसे बायें हाथमें ले लेना पड़ा था। दाहिनेमें छड़ी थी एक बाँसकी। धोतीको उसने घुटनोंसे ऊपर समेट लिया था। सम्भवतः मार्गमें कहीं जलावगाहन करना पड़ा है। कमीजकी स्वच्छता तथा गांधी टोपी उसे एक शिक्षित युवक बतला रही थी।

दूरसे हरहराहट सुनायी पड़ी। पथिकने मुड़कर देखा। पानी बड़े वेगसे उसका पीछा करता चला आ रहा है। नीचेके कंकड़ पैरोंमें चुभ रहे थे, फिर भी वह दौड़ पड़ा। मन्दिरके समीप पहुँचते ही उसके ऊपर बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ने लगीं। वह भींगनेसे पहले ही मन्दिरके पीछे निकली हुई छतकी छायामें पहुँचकर हाँफने लगा। मुखपर पसीनेकी बड़ी-बड़ी बूँदें आ गयी थीं और कमीज भी कुछ स्वेदार्द्र हो चली थी। वहीं कुछ देर खड़े रह कर उसने एकटक वर्षाकी झड़ी देखते हुए श्रान्ति दूर की।

मन्दिर होगा प्राचीन। बहुत स्थानोंसे वह टूट-फूट गया था और कहीं-कहीं वट तथा पीपलके वृक्ष मस्तक उठाने लगे थे। जूतेको भीतर ले जाना उचित नहीं था। वह बाहर भींगनेके लिए छोड़ दिया गया। पथिकने द्वारपर पैर रखा।

मध्यमें श्रीमहावीरजीकी मूर्ति थी। वह सिंदूर चढ़ते-चढ़ते पूर्णतः ढँक गयी थी और उसमें अब मुखाकृति भी अस्पष्ट हो चली थी। उसपर धूलि जम गयी थी।

यहाँ कौन पूजा करने आता है। मस्तकपर, घुटनेपर तथा चरणोंके पास कुछ काला-काला-सा पड़ा था। कभीके चढ़ाये ये इस रूपमें परिवर्तित पुष्प हैं। एक ओर आलेमें एक आसन मारकर बैठी हुई किसी ऋषिकी मूर्ति और दिखलायी पड़ी। उसपर भी धूलि जमी थी और सूखे कृष्णप्राय पुष्प चढ़े थे।

मन्दिरकी सारी भूमिपर धूलि जमी हुई थी। युवक भीतर आ गया और उसने एक कोनेमें धूलि झाड़कर अपने लिए स्थान बनाया। थोड़ी देर बैठे-बैठे वह ऊब गया। वृष्टि बन्द हो नहीं रही थी और अब एक घण्टेमें ही सूर्यास्त होनेवाला था। एक-दो मील तक कोई ग्राम था भी नहीं। अन्ततः वहीं रात्रि व्यतीत करनेका उसने निश्चय किया।

एक कोनेमें दो-तीन खजूरके पत्ते पड़े थे, वे कभी किसीने मन्दिर स्वच्छ करनेके काममें लिये होंगे। कुछ भस्म पड़ी थी एक कोनेमें। किसी बाबाजीकी धूनीका अवशेष थी वह। युवकने ढूँढ़कर दीवालमें एक कील प्राप्त कर ली। कमीज उसीपर लटकाकर वह मन्दिर साफ करने लगा।

अवश्य ही वह परिमार्जित रुचिका होगा। हाथ लगाकर आधा या अव्यवस्थित कार्य करना उसे जँचा नहीं। दीवालें स्वच्छ कीं, ईंटोंको जो नीचे गिरी थीं, खोखली जगहोंमें भर दीं। मूर्तियोंके सूखे पुष्प उतारकर धूलि छाड़ी और पूरा मन्दिर स्वच्छ करके कूड़ेका बड़ा-सा ढेर लगा दिया।

फोड़े हुए नारियलोंके कुछ खोखले थे। कूड़ा फेंककर उसने एक अच्छा खोखला रख लिया था। उसीमें वर्षाका जल जो मन्दिरपर-से धाराबद्ध गिरता था, लेकर उसने दोनों मूर्तियोंको भली प्रकार मलकर धो दिया। मन्दिर वह धो डालता यदि अन्धकार न बढ़ता होता। फिर उसे रात्रि विश्रामके लिए सूखे स्थानकी भी आवश्यकता थी। अन्ततः श्रान्त होकर आधी धोती बिछाकर एक कोनेमें सो रहा वह।

(२)

'आपने इतनी विलक्षण शैली कहाँसे उपलब्ध की।' जब तक कथा होती रही, पण्डितजी बड़ी एकाग्रतासे श्रवण करते रहे। कथा-समाप्तिपर जब तुलसी-दल लेकर श्रोता विदा हो गये और व्यासजी अपने विश्राम-स्थानपर पहुँचे तो उनके पीछे-पीछे ये भी आये और एकान्तमें इन्होंने प्रश्न किया।

दो सप्ताहसे व्यासजीकी कथा इस छोटे-से बाजारमें हो रही है। ठसाठस भीड़के मारे बैठनेको स्थान नहीं मिलता। लोग आगे बैठनेके लिए एक घण्टे पहलेसे आ जाते हैं। इतनी रोचक, मार्मिक तथा भावपूर्ण कथा भला यहाँके लोगोंने क्यों सुनी होगी। जनताकी श्रद्धा उमड़ पड़ी है।

व्यासजीकी अवस्था कुछ अधिक नहीं है। अभी वे युवक ही हैं। बड़ा सुरीला कण्ठ है। बड़े मनोहर ढङ्गसे

चौपाइयाँ व श्लोक पढ़ते हैं। कथाके अन्तमें पूरा एक घण्टा आध्यात्मिक प्रश्नोत्तरोंके लिए रहता है। प्रत्येक प्रश्नका उत्तर वे श्रीरामचरितमानसकी चौपाई या श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके श्लोकसे देते हैं।

व्यासजीका उत्तर संक्षिप्त होता है। एक अर्धाली या दोहा बोल दिया अथवा श्लोक कहा तो उसका साधारण अर्थ कर दिया। इतनेमें ही प्रश्नका उत्तर ऐसा सुन्दर हो जाता कि प्रश्नकर्ताको मूक हो जाना पड़ता। उसको सम्पूर्ण संतोष हो जाता। सम्भवतः उन्हें सम्पूर्ण 'मानस' एवं 'वाल्मीकि' कण्ठस्थ थी।

पण्डितजी स्वयं संस्कृतके प्रख्यात विद्वान थे। आस-पास उसकी कीर्ति थी। कथामें आनेपर लोग उनके लिए मार्ग दे दिया करते थे। जिस मन्दिरमें कथा हो रही थी, उसके पुजारी व्यासासनके समीप उनके लिए एक पृथक आसन भी प्रस्तुत रखते थे।

विद्याके साथ रहनेवाला अहंकार पण्डितजीमें नहीं था। बचपनमें श्रीरामचरितका वे नियमित पाठ करते थे। श्रीराम-कथामें उसका अनुराग था। संस्कृतमें लिखी रामायणों एवं श्रीराम-कथा सम्बन्धी नाटक, काव्य, स्तोत्र प्रभृति ग्रन्थोंके अध्ययनमें ही उन्होंने अपने केशोंको रजत वर्ण दिया था। इन ग्रन्थोंका उनके पास विशद संग्रह था।

इस युवक कथावाचकने उन्हें बहुत ही प्रभावित किया था। कथाकी शैली तथा व्याख्या अद्भुत तथा अपूर्व

होती थी। पण्डितजीके उन गूढ़ प्रश्नोंका उत्तर, जिनकी गुत्थियाँ वे आज तक सुलझा नहीं सके थे, उन्हें आश्चर्य-जनक ढंगसे और सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त हो गया।

मानसकी चौपाइयाँ उनके सम्मुख भी तो आती ही थीं। वाल्मीकिके सभी श्लोकोंकी उन्होंने शताधिक आवृत्ति की थी। अन्ततः अपनी शंकाओंका समाधान उन्हें स्वयं क्यों नहीं आज तक सूझा? उन स्थलोंपर उनकी दृष्टि ही कभी नहीं गयी। इस युवकने इतनी प्रतिभा, इतनी कुशलता, कहाँसे प्राप्त कर ली? इसे जाननेकी सम्पूर्ण उत्कण्ठा जागृत हो गयी। साथ ही यह भी इच्छा थी कि यदि सम्भव हो तो इन व्यासजीसे गूढ़स्थल पढ़ लिये जायँ।

'इसमें विलक्षणता क्या है?' वयोवृद्ध पण्डितजीको व्यासजीने सम्मानपूर्वक आसन दे दिया था और स्वयं समीप बैठ गये थे। 'आप देखते ही हैं कि मैं तोड़-मरोड़ करता नहीं, केवल स्पष्टार्थ ही करता हूँ।'

'सो तो है।' व्यासजी सचमुच स्पष्ट व्याख्याके अतिरिक्त घुमावदार अर्थों एवं प्रसंगान्तरोंमें नहीं जाया करते थे। उनकी व्याख्या ही सुन्दर होती थी। 'किन्तु इतने गम्भीर स्तर तक पहुँचकर व्याख्या करना भी तो सरल नहीं है। पण्डितजीने सरल स्वभावसे कहा।

'यह तो आपकी महत्ता है।' व्यासजी आत्म-प्रशंशासे संकुचित हो रहे थे।

'क्या सभी आध्यात्मिक प्रश्नोंका उत्तर रामायणमें प्राप्त हो सकता है ?' पण्डितजीने प्रश्न बदलकर पूछा ।

'आध्यात्मिक ही क्यों ; अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रश्नोंका उत्तर इन ग्रन्थोंमें-से प्रत्येकमें है ।' व्यासजीने विश्वस्त स्वरमें कहा । 'यह दूसरी बात है कि हम अपनी अल्पज्ञतासे उसे उपलब्ध न कर सकें । जैसे मुझे ही एक ग्रन्थसे दूसरेमें जाना पड़ता है ।'

'एक ही ग्रन्थमें सभी प्रश्नोंका उत्तर ?' पण्डितजीने आश्चर्यसे पूछा ।

'आश्चर्यकी कोई बात नहीं ।' व्यासजीने समझाया— 'विशुद्ध-विज्ञानीके सम्मुख लौकिक एवं पारलौकिक सारे रहस्य अनावृत रहते हैं और जब वह अपने उन्मुक्त हृदयके भावोंको पूर्णतः व्यक्त करता है तो सबको प्रकट कर जाता है । महर्षि वाल्मीकिके सम्बन्धमें कुछ कहना है नहीं और 'मानस' के प्रेरक महावीरजी हैं ।'

(३)

'एक अत्यन्त सुन्दर तपोवन था । कुछ मेखला दण्ड-धारी छात्र समिधा एकत्र करने वनमें जा रहे थे । मध्यमें विशाल वेदिकापर एक ओर महर्षि वाल्मीकि बैठे थे और दूसरी ओर श्रीपवनकुमार । महर्षिके सम्मुख ताल-पत्रोंका सुसज्जित समूह था । वे एक-एक करके पत्र श्रीमारुतिके करोंमें देते जा रहे थे । आञ्जनेय उसे मस्तकसे लगाते और फिर देखकर आदरपूर्वक एक ओर रख

देते। उनके नेत्रोंसे वारिधारा प्रवाहित हो रही थी।' सचमुच व्यासजीके नेत्रोंसे वारिधारा चल रही थी।

'आपका श्रम धन्य है?' पता नहीं कैसे वह पूरा ढेर समाप्त हो गया। सबको देखकर पवनपुत्रने कहा—'आपका मानस इस श्रीरामचरितमें अपूर्व तन्मय हुआ है।

'एक तपस्वी इस सीता-राम गुणारण्यको छोड़ और किस काननमें अपने मनको छोड़े!' महर्षिने कहा—'आपने भी कुछ लिखा है कपीश्वर? क्या मैं उसे देख सकूँगा?'

'क्यों नहीं!' उठकर महावीरजी खड़े हो गये। वे नभ मार्गमें उछले और महर्षि अपनी सिद्धिबलसे उनके साथ ही व्योम-मार्गसे चल पड़े। पता नहीं कब तक चलते रहे।

एक विशाल पर्वत था। मर्मर पाषाणकी सुचिक्कन विशाल शिलाएँ बिछी हुई थीं। उनपर पंक्तिबद्ध कुछ बड़े ही सुन्दर अक्षरोंमें खुदा हुआ था। आञ्जनेय क्रम-निर्देश करते जाते थे और ऋषि देखते जाते थे। कुछ अंश मैंने पढ़े; पर दुर्भाग्य वह एक भी पंक्ति स्मरण न रह सकी।

'आप दुखित क्यों प्रतीत हो रहे हैं?' सब शिलाएँ दिखलाकर मारुतिने महर्षिके मुखकी ओर देखा। उनका तेजोमय मुख-मण्डल म्लान हो रहा था।

'मैंने सोचा था, मेरी कृति विश्वमें सर्वश्रेष्ठ होगी, पर इस आपकी कृतिके सम्मुख उसे कौन पूछेगा?' ऋषिका कण्ठ भर आया।

'ओह! इतनेके लिए आप दुखी हैं?' महावीरजीने पूँछमें सभी शिलाओंको सजाकर लपेट लिया और आकाश मार्गसे उड़े। दूर सागर गर्भमें उन्होंने उन्हें विसर्जित कर दिया और लौट आये।

'हाय रे यशेच्छा!' ऋषिको पश्चात्ताप हो रहा था। 'मैंने विश्वको एक दिव्य ग्रन्थसे वञ्चित कर दिया। क्षमा करो रामदूत! उनका उद्धार करो!!' कातर कण्ठसे रो पड़े।

'अब जो हो गया वह बदला नहीं जा सकता।' श्रीमारुतिने आश्वासन दिया—'केवल शिलाएँ सागर-गर्भमें विसर्जित हुई हैं। श्रीरामचरित तो मेरे हृदयमें अंकित है। कलिमें जब आप पुनः आविर्भूत होंगे तो उसे मैं आपके द्वारा ही व्यक्त करूँगा।' विवशतः महर्षि अपने आश्रमके लिए प्रस्थित हुए।

'प्रभो!' मैंने एकान्त पाकर श्रीरामदूतके चरण पकड़ लिये।

'वत्स, विसर्जित ग्रन्थ तो मानसके रूपमें व्यक्त हो चुका।' आञ्जनेयने कहा—'अच्छा, तुम्हें दोनों ग्रन्थ उपस्थित हो जायँगे और उनके रहस्य भी तुमपर प्रकट रहेंगे। उनके द्वारा तुम इहलोकमें द्रव्य, यश तथा परलोकके लिए पाथेय प्राप्त करोगे!' मेरे नेत्र खुल गये और मैंने

देखा कि मन्दिरके कोनेमें पड़े-पड़े प्रभात हो गया है। तभीसे मैं कथावाचक होगया।

'आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हुआ !' वृद्ध पण्डितजीने संकोचसे पीछे हटते व्यासजीके पैरोंपर सिर रख ही दिया। दोनों गद्‌गद हो रहे थे।

नतोऽहं रामवल्लभाम्

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥

'मैं नवीन सृष्टि करूँगा और उसका ब्रह्मर्षि ही नहीं, ब्रह्म बनकर रहूँगा।' अमर्ष नेत्रोंसे चिनगारियाँ निकल रही थीं। विश्वामित्र क्रोधके मारे काँप रहे थे। उन्होंने कठोर तप किया, बार-बार ब्रह्माको संतुष्ट किया; किन्तु वशिष्ठके द्वारा वे अपनेको ब्रह्मर्षि नहीं ही कहला सके। उस ब्रह्म तेजके सम्मुख सदा उन्हें पराजित होना पड़ा।

'जगन्मयी आद्या!' वह क्षत्रिय हृदय निराश होना जानता ही न था। उसने 'असम्भव' नहीं सीखा था। पराकाष्ठाकी तितिक्षा एवं दृढ़ निश्चय था उसमें। 'माँ, तुम्हारे ही कृपा-कटाक्षसे स्रष्टाने सृजन-शक्ति प्राप्ति की है। आज यह शिशु भी उसीके लिए मचला है।'

जाने कितनी वर्षाकी झड़ियाँ, हिमका शैत्य और आतपकी लू उस तापसके ऊपरसे निकल गयी। अर्जुन-वृक्षमें कितने बार पतझड़ हुआ और कितनी बार कोंपलें आयीं, यह कौन गिने। जिस मर्मर-शिलापर वह तापस बैठता है, उसमें गड्ढे पड़ गये। आस-पास तृण उगे, सड़े और अन्ततः वह पाषाण-भूमिके बराबर हो गया।

कुछ दिन तो उसने त्रिकाल सन्ध्या एवं पूजन किया और फिर सब छोड़कर जो बैठा सो उठनेका नाम नहीं। जटाओंमें पक्षियोंने घोंसले बना लिये। पैरोंपर मिट्टी चढ़ गयी। वहाँ हिरण अपनी देह खुजलाकर कभी-कभी उसकी देहपर जमी मिट्टी छुड़ा जाते थे।

अन्ततः एक दिन उसकी समाधि खुली। उसने पलकें खोलीं। ऊपरको ओर देखकर अट्टहास किया और अपने शरीरपर जमी मिट्टीसे खिलौने बनाने प्रारम्भ कर दिये। जैसे उसे उठने या भोजन-पानकी आवश्यकता नहीं थी। अपनी धुनके सम्मुख वह कुछ देखता ही नहीं था।

'स्रष्टा, देख! तेरे यवसे मेरा गोधूम पौष्टिक एवं सुस्वादु है। तेरी गौसे मेरी महिषो अधिक दुग्ध देती है।' वह प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणियोंका प्रतिनिधि बना रहा था। सचल, सजीव, वास्तविक!

'तुम मानवसे मानव उत्पन्न करते हो, मेरे मानव वृक्ष फलेंगे!' उसने नारियलका फल बनाया।

'अलम् वत्स!' वृद्ध हंसवाहन आकाशमें उपस्थित होकर उसको निवारण कर रहे थे।

आदरणीयका आदर न करना औद्धत्य है। वह उठ कर खड़ा हुआ। अर्घ्य आवेदित किया उसने पितामहको और दोनों हाथ जोड़कर नम्रशिर खड़ा हो गया। हंस धीरे-धीरे नीचे उतरा। उसी मर्मर भाषणपर उस तापसने स्रष्टाकी विधिवत् अर्चना की।

'मानव कृत सृष्टि स्थायी नहीं होती।' ब्रह्माने तपस्वीसे कहा—'बड़वा एवं गर्दभके संयोगसे बना खच्चर सन्तति-उत्पादनमें असमर्थ है। उसके लिए सदा वही संयोग अभीष्ट है।'

'पितामह !' उसने नम्रतापूर्वक कहा—'जिन महाशक्तिकी कृपासे आप सृष्टि करते हैं, उन्होंने ही इस शिशुका हठ भी रखा है, मेरी सृष्टि मानव तो है नहीं। वह उन्हींकी कृपासे पालित है।'

'बिना प्रजापतियों एवं भगवान् विष्णुके पालनके कोई सृष्टि रह नहीं सकती !' पितामहने दूसरा तर्क उपस्थित किया। 'निर्माताको सदा रक्षककी अपेक्षा है। रक्षणके बिना सृजनका कोई मूल्य नहीं !'

'ये प्रजापति-पालक किसकी शक्तिसे अनुप्राणित हैं ?' उसमें अटल विश्वास था—'वस्तुतः तो जगज्जननी ही सबकी पालिका हैं। उन्हींकी पालक शक्तिसे ये सब पालक बने हैं। वे अपने बच्चेके निर्माणका रक्षण नहीं करेंगी ? मैंने उन्हींकी शक्तिसे सृजन किया है। उनके किस अनुजीवीकी शक्ति है जो मेरे सृजनकी उपेक्षा कर दे ?'

'तब तो सृष्टि और भी भयङ्कर है।' पितामह मुसकरा रहे थे। 'वह बराबर बढ़ती रहेगी। सम्पूर्ण स्थान घेर लेगी और नवीन स्थानकी समस्या सदा बनाये रहेगी।'

'ऐसा क्यों ?' वह निश्चिन्त बोल रहा था। 'ये रुद्र, ये काल, ये विनाशक महामारियाँ तथा दूसरी विश्लेण

शक्तियाँ क्या करेंगी ? जैसे आपकी सृष्टि चलती है, वैसे ही मेरी भी चलेगी। उसी महाशक्तिके प्रलयंकारी रूपसे विनाशकी शक्ति प्राप्त ये शक्तियाँ नियमित रूपसे मेरी सृष्टिमें भी जीर्णको हटाकर नूतनके लिए भूमि प्रशस्त करेंगी।'

'मैं आज तुम्हारा अतिथि हूँ। मुझे कुछ दोगे नहीं ? अन्ततः तो तुम मेरे पुत्र ही हो।' पितामहने दूसरे ढङ्गसे कार्य सम्पन्न करना ठीक समझा।

'मेरा अहोभाग्य !' तापसने प्रमुदित होकर कहा—'मैं स्रष्टाके काम आ सकूँ तो यह शरीर भी त्याग सकता हूँ।' क्षत्रियके लिए उपयुक्त ही उदारता थी यह।

'शरीर नहीं, सृष्टि !' पितामहने कहा—'मुझे यही चाहिये कि तुम अब सृष्टि करना छोड़ दो ! तुम स्रष्टा बनना चाहते भी तो नहीं हो।'

'जो आज्ञा !' तापस नत-मस्तक हो गया। 'मैंने जो कुछ कर दिया, वह मेरे नामसे ही चलेगा। अब मैं सृजन नहीं करूँगा; किन्तु वशिष्ठको फिर भी मुझे ब्रह्मर्षि स्वीकार करना होगा !' भला ब्रह्माजी इस झमेलेमें क्यों पड़ने लगे। हुआ काम, बने रमते राम।

[२]

'मैंने तुम्हें प्रथम ही वारित किया था कि अयोग्य आग्रहका परिणाम अच्छा नहीं होता।' ब्रह्मर्षि विश्वामित्र

बड़े शान्त स्वरमें कह रहे थे। यद्यपि उनका कोमल हृदय दयासे द्रवीभूत हुआ जा रहा था।

'रक्षा करो गुरुदेव !' बड़ी तीव्र गतिसे वह नीचे मस्तकके बल गिर रहा था। वायुके वेगसे अङ्ग-अङ्ग उखड़ जाना चाहता था। नेत्र बाहर निकले पड़ते थे। मूर्छित होनेसे पूर्व अन्तिम शक्तिसे उसने कातर पुकार की।

'अच्छा, वहीं ठहरो !' प्रकृतिका कोई नियम महर्षिकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता था। देवता एवं लोकपालोंने आश्चर्यसे देखा कि त्रिशंकु अन्तरिक्षमें ही स्थित हो गया।

'तुम गुरुपुत्रोंके शापसे चाण्डाल हो गये और फिर भी सशरीर स्वर्ग जानेका हठ न छोड़ सके !' ऋषिने कहा—'तुम्हारे आग्रहके कारण मैंने तुम्हें भेज दिया। यह तो निश्चित था कि देवता तुम्हें वहाँ रहने नहीं देंगे। अब तुम जहाँ हो वहीं बने रहो।'

'गुरुदेव !' बड़े करुण-कण्ठसे शून्यमें नक्षत्र-मण्डलके मध्य मस्तकके बल लटकते हुए नरेशने कहा—'आपके उदाहरणने ही मुझे बताया था कि असम्भव कुछ नहीं है।'

'पर मेरे उदाहरणने तुम्हें यह नहीं बताया कि अविधि-पूर्वक शक्तिका उपयोग कोई फल नहीं देता ?' ऋषिने रोषसे पूछा—'मेरी तपस्या व्यर्थ गयी। मेरी सिद्धियाँ असफल रहीं। अस्त्र न्यास करके महर्षि वशिष्ठके चरणोंमें गिरनेपर ही मैं ब्रह्मर्षि हो सका।'

'आर्त क्षम्य होता है गुरो !' ऊपरसे करुण कण्ठकी ध्वनि आ रही थी। 'मुझे बड़ा क्लेश है। मेरे एक-एक अङ्ग फटे जा रहे हैं। मैं चक्कर खा रहा हूँ। मेरी रक्षा कीजिये !'

'यह मेरे वशसे बाहरकी बात है नरेश !' बड़े खिन्न स्वरमें ऋषिने कहा—'अपनी तपस्याका अधिकांश मैं वशिष्ठके साथ द्वन्द्वमें नष्ट कर चुका। उनके पुत्रोंकी मृत्युका कारण बननेसे बहुत तपस्या नष्ट हुई। तुम्हें स्वर्ग सशरीर भेजकर मैं रिक्तप्राय हो गया था और अब तुम्हें अन्तरिक्षमें स्थित रहनेके लिए तो मेरा अवशेष समस्त तप लग चुका। किस शक्तिसे अब तुम्हारा क्लेश निवारण करूँ?'

'मेरे लिए तो आपके श्रीचरणोंके अतिरिक्त और कोई गति है नहीं प्रभु !' गिड़गिड़ाकर रोते हुए उस पीड़ित नरपालने कहा।

'सम्पूर्ण देवता तुमसे रुष्ट हैं।' विश्वामित्रजीका स्वर कुछ शान्त हो चला था। 'गुरुपुत्रोंने तुम्हें शाप दिया है। तुम्हारे शुभ-कर्म समाप्त हो चुके हैं। ऐसी स्थितिमें तुम कर्म-लोकसे भी दूर हो। कुछ कर भी नहीं सकते हो। तुम्हारे कष्टका निराकरण बड़ा ही कठिन दिखायी पड़ता है।'

'आपके लिए असम्भव कुछ नहीं है।' एकमात्र आश्रयकी ओर पीड़ित दृष्टि न डाले तो करे क्या?

'एक उपाय है !' त्रिशंकुके जी-में-जी आया। 'तुम जगद्धात्री आद्या महाशक्तिका स्मरण करो। मैं स्वयं भी

तुम्हारे लिए उनके श्रीचरणोंका ध्यान करता हूँ। वे निखिल क्लेश-निवारिणी ही तुम्हारे क्लेशको दूर करनेमें समर्थ हैं !'

महर्षिने आचमन किया और दोनों हाथोंमें श्वेत कुवलयकी अञ्जलि लेकर महामायाका ध्यान करने लगे। तन्मय हो जाना तो उनका स्वभाव हो गया था। और एकान्त हृदयकी प्रार्थना कभी निष्फल जाती नहीं।

'क्या है नरेश ?' उन्होंने शान्तस्वरमें पूछा।

'ओह, गुरुदेव ! आप धन्य हैं ! आपकी कृपाका प्रभाव महान है !' त्रिशंकु कह रहा था गद्गद स्वरमें—'वह महाज्योति, वह आनन्द सौंदर्यकी महिमामयी-मूर्ति····?' आगे कण्ठ रुद्ध हो गया।

'धन्य तो तुम हो नरपाल !' आर्द्र स्वरमें ऋषि बोले—'भगवतीने तुम्हें दर्शन दिया। तुम्हारा जीवन सफल हुआ। इस अभागेपर तो उन्होंने ऐसी कृपा आज तक नहीं की।अब तुम्हारी क्या दशा है ?'

'बड़ा सुख है, बड़ा आनन्द है !' त्रिशंकुने हर्षसे कहा—'मैं उलटा लटक रहा हूँ, यह जान ही नहीं पड़ता। कोई असुविधा नहीं। मन्द सुरभित वायु मेरा स्पर्श कर रहा है और मुझे जो सुख प्राप्त हो गया है, वह तो स्वर्गमें भी मैंने देखा नहीं। मेरे आस-पास ये नवीन नक्षत्र बन गये हैं। इनमें परिचारक हैं तथा सभी दिव्य भोग हैं।'

महाशक्तिकी कृपासे अब तुम आकल्पान्त इसी शरीरसे इसी प्रकार यहाँ रह सकोगे !' ऋषिने कहा—'तुम पूर्ण-

काम हो गये। तुम्हारा मङ्गल हो। अपने इस गुरुके लिए भी उन आद्यासे प्रार्थना करना। उनके श्रीचरणोंके दर्शन किये बिना मुझे अब शान्ति नहीं होने की।' महर्षि पुनः तपस्याके लिए कृत निश्चय हो गये।

[३]

'कार्यहीन मन व्यर्थकी विडम्बनाओंमें लगा रहता है।' एकान्त शान्त सन्ध्याकालमें सन्ध्योपासनके पश्चात् उसी आसनपर बैठे हुए महर्षि विश्वामित्र सोच रहे थे। 'हम वनवासी यज्ञके द्वारा यज्ञ-पुरुषकी अर्चना करते हैं। वैसे इस अर्चनाका प्रयोजन कुछ नहीं, फिर भी नैकषेय इसमें बाधा क्यों दें ? राघव कुमारोंको लाकर उनका वध कराना अनिवार्य हो गया था।'

आश्रमवासियोंमें साहस नहीं था कि वे एकान्तमें बैठे महर्षिके समीप जावें। अवश्य ही उनके इस अतिरिक्त विलम्बसे यह शङ्का हो चली थी कि कहीं वे ध्यानस्थित तो नहीं हो गये ? प्रातःकाल ही उन्होंने मिथिला प्रस्थान करनेका आदेश दिया है और उनका ध्यान स्थिर हो गया तो फिर वे महीनों आसनसे नहीं उठते।

'जगदम्बिकाने ध्यानमें दर्शन देकर आदेश दिया था कि एक साथ ही तुम मेरा और परम पुरुषका साक्षात्कार कर सकोगे। एक साथ ही मानवरूपमें अवतीर्ण हम दोनोंको तुम पहिचान सकोगे।' महर्षि सोच रहे थे— 'उन्हींके आदेशसे मैं तपस्यासे उपराम हुआ था। पता नहीं कब उनकी कृपा होगी।'

'आज क्या प्रभु कृपा नहीं करेंगे ?' वीणा विनिन्दक गम्भीर मञ्जु शब्द श्रवणोंमें पड़ा। महर्षिने नेत्र खोला और अपलक आत्म-विस्मृतसे उस नित्य नूतन सौंदर्य राशिको देखने लगे।

'सभी आश्रमवासी उटजके सम्मुख अशोक तले निर्मल ज्योत्स्नामें बैठकर प्रभुके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं !' नीलोज्वल पीताम्बरधारी उस रघुकुल किशोरने नम्रतापूर्वक प्रार्थना की।

'चलो वत्स !' महर्षिने आत्म-संयम करते हुए कहा— 'ये ही तो आदि पुरुष नहीं हैं?' अब भी वे थे संदिग्ध ही।

प्रसङ्गका व्यर्थ विस्तार अभीष्ट नहीं। मुनि-मण्डली कौशल-कुमारोंके साथ प्रस्थित हुई और मार्गमें अहिल्या-पर कृपा करते हुए वे मिथिला पहुँच गये। महाराज विदेहके आतिथ्यके अनन्तर दूसरे दिवस यज्ञशालामें सब आसनासीन हुए।

'जो परम कल्याणमयी हैं, समस्त मङ्गलोंकी दात्री हैं, वे मङ्गल करें।' महर्षि तटस्थ नहीं थे। वे राघवेन्द्र धनुष तोड़ें, यह चाहते थे। 'यज्ञ-विघ्नोंका शमन जिनकी कृपासे हुआ, मैं उन्हींके पुण्य-पदोंका स्मरण करता हूँ।' महर्षिने श्रीरामभद्रको धनुषोत्तोलनकी आज्ञा दे दी।

'मनुष्यका सम्पूर्ण कल्याण जिन्हें प्राप्त करके होता है, वही तो हैं ये।' महर्षि बार-बार सोच रहे थे।' एक सूक्ष्म-सा आवरण हृदयपर बना था। 'इन्हींका तो

दर्शन मुझे ध्यानमें हुआ था।' जैसे वे किसी विस्मृत बात-को स्मरण करनेका प्रयत्न कर रहे हों।

धनुष टूट गया था। सखियोंसे घिरी विदेहजा दोनों हाथोंमें जयमाल लिये अपने आराध्यके चरणोंके समीप खड़ी थीं। एक बार नीची दृष्टि उठाकर उन्होंने दूर मुनि-मण्डलीके बीच बैठे विश्वामित्रकी ओर देखा।

एक पर्दा-सा हट गया। गद्गद होकर महर्षिने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। कोई लक्षित कर सका या नहीं—कह नहीं सकते। अस्फुट ध्वनिसे महर्षिने कहा—'नतोऽहं रामवल्लभाम्।'

उसी क्षण उधर जयमाल कण्ठमें पड़ी। शङ्ख-ध्वनि, मङ्गल गान-ध्वनि एवं वेदध्वनि। मुनिके शब्द किसीने न सुना हो तो क्या आश्चर्य? उन सर्वज्ञाने तो सुन ही लिया।

अशेषकारणपरम्

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रम
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

'सम्भवतः आपके दूतोंसे भूल हुई है।' उसे न तो भय प्रतीत हुआ और न कोई खेद ही। यमदूत उसे संयमिनी ले आये थे। यों उसे कोई क्लेश नहीं दिया गया था और यमदूत भी उसे सौम्य स्वरूपमें प्राप्त हुए थे। वह संयमिनीमें पूर्वके स्वर्णद्वारसे ही प्रविष्ट किया गया था। वैतरणीके प्रतिक्षण परिवर्तनशील पुल स्फटिकके स्वरूपमें उसके लिए मार्ग था।

'मेरे किङ्कर प्रमाद नहीं किया करते!' शान्त सौम्य स्वरूपमें विराजमान वही धर्मराज गम्भीर स्वरसे कह रहे थे जो पापियोंको महाभयङ्कर यमराजके रूपमें दिखायी दिया करते हैं।

'मैंने सहस्र वर्ष एक पादसे खड़े रहकर लोकपितामह-की आराधना की है। मुझे यहाँ क्यों लाया गया?' तपस्वी भूतिने समझा कि अवश्य धर्मराज भी कहीं-न-कहीं भ्रममें पड़ रहे हैं।

'यह मुझसे अविदित नहीं है।' वे नियन्ता शान्त थे। 'इसीसे मैं आपके चरणोंमें प्रणत हूँ। मेरे अनुचरों द्वारा आपको कोई कष्ट हुआ हो तो आप इस सेवकको क्षमा करें!'

'मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ और न मेरा कोई असम्मान किया गया।' भूतिने कहा—'किन्तु मुझे आपके सम्मुख लाया ही क्यों गया? मैं इसे समझ नहीं पाया हूँ।'

'आपके तपोपार्जित दिव्यलोक अपार हैं, ज्योतिर्मय हैं।' धर्मराजने कहा—'किन्तु उनका मार्ग यहाँ होकर ही जाता है। प्रत्येक पुण्यात्मा एवं पापीको यहाँ आना पड़ता है और यहीं निश्चित होता है वह कहाँ भेजा जावे। आपका मङ्गल हो, यह दिव्य-विमान आपको उस दिव्य-लोकमें पहुँचा देगा, जो वस्तुतः ब्रह्मलोकका ही एक अङ्ग है।'

'वह कौन-सी शक्ति है जिसके कारण आप जगत्स्रष्टाके सेवकोंपर भी शासन करते हैं।' तपस्वी कुछ झुँझला रहा था। 'मैं कोई दिव्यलोक नहीं चाहता। मैंने इसके निमित्त तप नहीं किया था। मैं तो सृष्टिकर्ताके चरणोंको उपलब्ध करके अपुनर्भवकी इच्छा रखता हूँ।'

जिसकी मायासे विवश स्रष्टा सृष्टि करते हैं, शिव संहार करते हैं और विष्णु पालन करते हैं; जिसकी मायाके वशवर्ती इन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि समस्त देवता तथा निखिल जड़-चेतन जगत् है, उसी परम प्रभुकी इच्छा शक्ति मुझे भी इस कार्यमें नियोजित किये है।' उन परमभागवतने गद्गद होकर मस्तक झुकाया।

'तो क्या मेरा तप निष्फल हुआ ?' तपस्वीने खिन्न होकर पूछा।

'आपने लोकपितामहकी आराधना की। उनका सालोक्य आपको प्राप्त हो रहा है।' धर्मराजने कहा—'किन्तु ब्रह्मलोक नित्य नहीं है। द्विपरार्धमें जब महाप्रलय होगी तब आपको वहाँसे अव्यक्तमें स्थित रहना होगा और नूतन सृष्टिमें आप पुनः धराधामपर पदार्पण करेंगे।

तपस्वीने दीर्घ निःश्वास ली। उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति सुख नहीं दे सकती थी। बड़ी निराशा एवं व्यथासे वह वहीं धम्मसे बैठ गया।

[२]

'मैं यहाँसे कहीं जानेका नहीं!' तपस्वी भूतिने सत्याग्रह किया। धर्मराज बड़े धर्म-सङ्कटमें पड़ गये। वे इस पुण्यात्मा ब्राह्मणके साथ कठोर व्यवहार नहीं कर सकते थे। संयमिनीमें कोई अतिथिशाला है नहीं। उस न्यायालयको कोई धर्मशाला मान बैठे तो क्या हो?

'चित्रगुप्त, इन तपस्वीको कुछ देखने दो।' अन्ततः कुछ सोचकर उन महानिर्णायकने अपने पेशकारसे कहा। महर्षिने देखा कि लक्ष-लक्ष जीव आ रहे हैं। कभी धर्मराज भयङ्कर हो जाते हैं, कभी शान्त और नम्र। सम्पूर्ण पुरी उनके अनुरूप क्षण-क्षणमें अपनेको परिवर्तित कर रही है।

'भीरु, तुझे सर्पने कहाँ काटा?' यमराज कह रहे थे। 'रस्सीको साँप समझकर भयसे तू अपमृत्युको प्राप्त

हुआ। भय सबसे बड़ा पाप है। उसका परिणाम तुझे भोगना ही होगा !'

क्या-क्या तपस्वीने देखा, कह नहीं सकते। अन्ततः उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये--' बस करो न्यायाधीश ! मैं और नहीं देख सकूँगा।' उन्होंने प्रार्थना की। संकेत हुआ और चित्रगुप्तने वह शक्ति समेट ली।

'आप तो ब्रह्मलोक जानेसे डरते हैं !' हँसते हुए धर्मराजने कहा--' ये जीव पता नहीं कितने कल्पोंसे इसी प्रकार यन्त्रणा भोग रहे हैं और आगे भी भोगते रहेंगे।'

'अब तो मैं और भी भीत हो उठा हूँ !' तपस्वीने कहा--' अबतक तो मैं सुनता था कि इतना कष्ट जीव पाता है, अब उसे प्रत्यक्ष कर लिया। ब्रह्मलोककी आयु समाप्त हो जानेपर तो मेरी भी ऐसी ही कुछ दशा होगी ?' दोनों हाथोंसे मस्तक पकड़ लिया उन्होंने।

'भय सबसे बड़ा पाप है तपस्वी !' धर्मराजने मुस-कराते हुए कहा।

'यह सब क्या सत्य है ?' तपस्वीको सन्देह हुआ। उसने संयमिनीपतिको मुसकराते देख लिया था।

'वैसा ही, जैसा उस भीरुके लिए सर्प था ?' धर्मराजको क्या पड़ी कि वे झूठ बोलें।

'अर्थात् ?' तापस चौंका।

'यह कर्मलोक नहीं और न जिज्ञासाका स्थान है।' धर्मराजने कहा—'फिर भी एक बात मैं आपको बता

'असत्य, निराधार !' तपस्वी विस्मित था।

'ऐसा नहीं !' धर्मराजने कहा—'निराधार कोई वस्तु नहीं। रस्सी न हो तो सर्प कैसा ? एक सत्य है और और उसीकी सत्तासे यह सब सत्य-जैसा भासमान है। वही चिर चैतन्य सबका आधार है।'

'तब कैसा ब्रह्मलोक और कैसा नर्क ?' तापसने कहा— 'मैं तब दोनोंको अस्वीकार करूँगा !'

'यह कैसे शक्य है' धर्मराज हँसे—'स्वप्न देखने वाला उसके सुख-दु:खोंको अस्वीकार कैसे कर देगा ? उसे तो उन्हें लेना ही होगा !'

'तब जागरण···· ?' तापस प्रश्न पूरा नहीं करने पाया।

'आप अब मुझपर कृपा करें !' धर्मराजने हाथ पकड़कर उसे विमानमें आग्रहपूर्वक बैठा दिया और विमान उड़ चला।

[३]

'पितामह, यदि सेवक क्षम्य समझा जावे।' लोक तो सभी भोगके हैं मर्त्यलोकके अतिरिक्त, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि वहाँ कर्म हो ही नहीं सकता। वहाँ-का कर्म फलद नहीं होता, इतना ही। फिर भी वहाँके कर्म

सर्वथा निष्फल नहीं होते। वे पाप-पुण्यरूप फल नहीं प्रकट करते। वैसे इन्द्रका वज्र-प्रहार किसीकी मृत्युका कारण तो होता ही है। तपस्वी भूति ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँके भोगोंमें प्रमत्त नहीं हुए। वे सदा ब्रह्माकी सेवामें लगे रहते थे।

वे देखते थे कि पितामह सृष्टिके इतने विशाल कार्यमें अप्रमत्त होकर लगे रहते हैं और फिर भी सदा किसीका ध्यान किया करते हैं। उनका मानसिक पूजन-क्रम कभी विश्राम नहीं लेता।

'पूछो वत्स ! इस लोकमें भय और सङ्कोचके लिए कोई स्थान ही नहीं !' तपस्वीकी निरन्तर सेवासे पितामह परम सन्तुष्ट थे और इसी कारण उसे सदा समीप रहनेका अवसर प्राप्त हुआ।

'आप निरन्तर किसका ध्यान करते हैं ?' बड़े नम्र शब्दोंमें तपस्वीने पूछा।

'जो इन सब दृश्योंका आधार है।' ब्रह्माजीके शब्दोंने धर्मराजके वाक्योंका स्मरण करा दिया। 'जो सबके कारण हैं। जिनका कोई कारण नहीं। जिनकी शक्तिसे यह सृष्टि हो रही है और मैं स्रष्टा हूँ, उन कारणोंके परम-कारणका ध्यान करता हूँ।'

'किसलिए ?' तपस्वी जान बूझकर छोटे प्रश्न

'आज मैं स्रष्टा हूँ' पितामहने कहा--'किन्तु एक दिन आवेगा जब काल मुझे यहाँसे दूर फेंक देगा। सृष्टिके साथ स्रष्टाकी आयु पूर्ण हो जायगी और तव यह भवसागर मेरे सम्मुख भी उसी प्रकार उपस्थित होगा, जैसे किसी भी जीवके सम्मुख है।'

'श्रुतिमें इस भवाब्धिसे पार होनेके बहुत-से उपाय कहे गये हैं और आपको उपलब्ध हैं!' साश्चर्य तपस्वीने कहा।

'योग, ज्ञान, तप, यज्ञादि बहुत-से मार्ग श्रुतिने कहे हैं और वे मुझे सहज प्राप्त हैं।' ब्रह्माजीने कहा --'किन्तु उनमें कोई भो निरुपाधि नहीं है। क्या पता अन्तमें चित्तवृत्ति पूर्णतः निरुद्ध रहे या न रहे। स्वरूपमें स्थिति हो या न हो। तप और यज्ञ इसी लोक तक आते हैं।'

'तब ?' तपस्वी बहुत उत्कण्ठित था।

'इसीसे मैं नित्य श्रीहरिके चरणोंका स्मरण करता रहता हूँ।' भाव-बिभोर ब्रह्माजो बताते जा रहे थे। 'संसारसागरसे पार होनेके लिए इनके श्रीचरणोंका ही एकमात्र आश्रय है। इससे पार होने वालेको एकमात्र यही नौका मिल सकती है।'

'एक बार उनका साक्षात्कार कर पाता!' अन्तरकी सम्पूर्ण लालसा भरकर उसने कहा। साहस नहीं होता था अनुरोध करनेका।

'उन श्रीहरिके वैकुण्ठ जानेकी शक्ति तो तुममें है नहीं !' पितामहके स्वरमें तापसने आशाकी एक उज्ज्वल रेखा देख ली। 'वे ईश्वरेश्वर हैं, समर्थ हैं, वही करुणा करें तो सम्भव है। उन्हींकी कृपाकी प्रतीक्षा करो !' इससे अधिक पितामह और कह भी क्या सकते थे ?

[४]

'आज तुम्हारी चिर लालसा पूर्ण हो रही है वत्स ! अपने हंसकी पीठको थपथपाते हुए ब्रह्माजी कहीं जानेके लिए प्रस्तुत हो चुके थे। उन्होंने तपस्वी भूतिसे, जो इस ब्रह्मलोक में भी भोग पराङ्मुख होनेके कारण तपस्वी ही प्रसिद्ध था, कहा।

'प्रभु, क्या श्रीहरिके चरणोंमें सेवकके लिए प्रार्थना करेंगे ?' बड़ी कृतज्ञतासे उसने पूछा।

अपनी प्रार्थना तुम स्वयं उन चरणोंमें कर लेना।' ब्रह्माजीकी पहेली समझमें आयी नहीं।

'मैं किस शक्तिसे वैकुण्ठ जा सकूँगा !' खिन्न होकर वह पितामहके मुखकी ओर देखने लगा। उसने समझा पितामह नित्यकी भाँति प्रार्थना करनेको कह रहे हैं। प्रार्थना उन सर्वेशके श्रीचरणोंमें तो पहुँचती ही होगी।

'वैकुण्ठ न सही, देव-धरापर तो निर्बाध जा ही सकते हो। तुम जल्दीसे मेरे पीछे चले आओ !' पितामह सदा शीघ्रता में रहते हैं। वृद्ध होनेपर भी उनमें बालकों जैसी चपलता है। धीरे-धीरे काम करना उन्हें नहीं आता। वे हंसकी पीठपर बैठे और चल पड़े। तपस्वी

भूतिने उनका अनुगमन किया। उन्होंने देख लिया कि अब प्रश्न करना व्यर्थ है। उत्तरकी आशा पितामहसे इस समय नहीं की जा सकती।

'यह क्या ?' तपस्वी चौंका। उसने देखा कि भगवती शारदा और सावित्री भी चल रही हैं। पीछे दृष्टि की तो पूरा ब्रह्म-लोक ही आता दिखायी पड़ा। ऐरावतके परिचित घण्टानादसे आकर्षित होकर जो पूर्व दृष्टि डाली तो महेन्द्र समस्त देव, गन्धर्व एवं अप्सराओंके साथ आते दिखायी दिये।

मार्गमें अभी ब्रह्माजी उमामहेश्वरसे मिल ही रहे थे कि गरुड़के पक्षोंको छाया वहाँ पड़ने लगी। दक्षिणमें यह जो कृष्णाकृति दिखायी देती है, वे सम्भवतः धर्मराज महिषारूढ़ पधार रहे हैं।

'समस्त देववृन्दोंका भार धरिणी कैसे सह लेगी ?' तपस्वी मन-ही-मन सोच रहे थे।

'सुरगण यहींसे प्रभुका दर्शन करेंगे !' नीचे स्वर्णके कलश चमक रहे थे। पताकाएँ फहरा रही थीं। घण्टा, शङ्ख, मृदंग प्रभृति वाद्य बज रहे थे। वेदध्वनि एवं महिलाओंका कोकिल कण्ठ अप्सराओंको भी लज्जित कर रहा था। सरयू किनारे इस पुरीमें आज आनन्द घनीभूत हो उठा था। वहीं नभमें रुकनेका निर्देश स्रष्टाने सबको दिया।

'ये रत्नोज्ज्वल भवन, यह नारि-नर सौन्दर्य, यह अपार वैभव, ब्रह्म-लोकमें भी तो नहीं? यहाँ कहीं न

तो अभावका प्रवेश है और न शोककी छाया।' तपस्वीको बड़ी लालसा थी कि वह नीचे उतरकर पुरी देखे; किन्तु पितामहने सबको वारित कर दिया था। 'तब क्या यही बैकुण्ठ है? मैं भला यहाँ कैसे प्रवेश प्राप्त कर सकता हूँ?' वह निराश हो गया।

'तुम मेरे साथ आ सकते हो!' पितामहने उसपर अनुग्रह किया। 'राघवेन्द्र सिंहासनारूढ़ हो चुके हैं। महर्षि अभिषेकके लिए अपने स्थानसे उठ रहे हैं। शीघ्रता करो! भगवान् रामकी यह झाँकी बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होती है।' पितामह बिना देखे चल पड़े। भोले बाबा अम्बिकाको लिये पहले ही जा चुके थे! तपस्वीको यह कहाँ अवकाश कि देखे कि और कौन-कौन दर्शनाधिकारी समझे गये हैं। वह तो उन चरणोंकी वन्दना करने चल पड़ा।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

'आप इस अनुवाद-ग्रन्थकी प्रशंसामें क्यों प्रवृत्त हुए?' आचार्य भीमशंकर पण्डितोंके साथ श्रीमधुसूदन सरस्वतीके आश्रमपर पधारे थे। उन्हें बड़ी आशा थी कि ये दिग्गज विद्वान् तुलसीके भाषा-ग्रन्थको कदापि पसन्द नहीं करेंगे। इसी आशापर काशीके पण्डितोंने उनकी सम्मतिपर ग्रन्थकी मान्यता स्थिर की थी। 'भक्तिरसायन'—कारके भावुक हृदयका पता उन शुष्क विद्वानोंको भला कैसे लगता। 'मानस' पर स्वामीजीकी सम्मतिने उन्हें क्षुब्ध बना दिया था।

'आप उसे अनुवाद-ग्रन्थ कैसे कहते हैं?' नम्र गाम्भीर्यमें स्वामीजीने पण्डितोंको आदरपूर्वक आसन देकर पूछा। वे स्वयं एक उच्च चौकीपर व्याघ्राम्बर डाले आसीन थे। रुद्राक्षकी माला, त्रिपुण्ड एवं काषाय वस्त्रोंमें वे तेजस्वी साक्षात् अग्निमूर्ति जान पड़ते थे।

कथा–भाग अध्यात्मरामायणसे।' पण्डितजी आवेशमें कहते जा रहे थे—'कुछ वेदोंसे, कुछ तन्त्र ग्रन्थोंसे, कुछ पुराणोंसे, कुछ उप-पुराणोंसे, कुछ नाट्य एवं काव्य ग्रन्थोंसे। 'कहींका ईंट कहींका रोड़ा, भानुमतीने कुनबा जोड़ा' उसमें अपना है ही क्या।

'आपने उस पावन ग्रन्थका स्वाध्याय तो किया है।' स्वामीजी हँसे—'मैं तो समझता था कि आप उसे स्पर्श करनेसे ही डरते होंगे।' उस 'अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्य' के वचनोंको चुपचाप सहन करनेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। शारदाके उन वरदपुत्रका सामना करनेका साहस कौन कर सकता था।

'अपनेपर आघात करनेवाले प्रतिपक्षी बौद्ध जैनादिकोंके ग्रन्थोंका स्वाध्याय श्रीचरणोंको भी करना ही पड़ता है।' पण्डितजीने व्यंग्य किया।

'पण्डितजी, आप चाहते क्या हैं? मौलिक किसे कहते हैं?' 'व्यासोच्छिष्टमिदं जगत्' को क्यों भूल जाते हैं?' स्वामीजी ज्यों-के-त्यों शान्त एवं गम्भीर थे। 'कौन-सा ऐसा संस्कृत ग्रन्थ है जो व्यासकी उक्तियोंके बिना चार पंक्ति भी रिक्त मिले? पुराण एवं शास्त्रोंकी उक्तियोंको सजाना अमौलिक मान लिया जावे तो कालिदास, भवभूति प्रभृति तथा आदिकवि महर्षि वाल्मीकि भी अनुवादक ही रहेंगे! अन्ततः श्रीरामचरित श्रुतियोंमें भी तो है। भगवान् वेदव्यासने ही क्या मौलिकता दिखायी? उन्होंने भी तो निगम आगमको प्रकारान्तरसे प्रस्तुत किया?'

'तब क्या मौलिकता एवं अनुवादमें कोई अन्तर ही नहीं ?' पण्डितजी जानते थे कि तर्क करके इन नैयायिकोंके गुरुदेवसे पार पाना शक्य नहीं है।

'यह तो सोचनेकी बात है।' दो क्षण रुककर पुनः स्वामीजीने कहा—'आप 'भावमनुहरति कविः' को भूलते क्यों हैं ? व्यासके ग्रन्थों तथा श्रुति शास्त्रोंसे कुछ लेना चोरी नहीं है और न अनुवाद। अनुवाद तो ज्यों-का-त्यों रख देना है। भावोंको लेकर अपने ढंगसे व्यक्त करना, उन्हें अपने कौशलसे सजाना मौलिकता है और आपको स्वीकार करना होगा कि 'मानस'-कारने जो भी भाव लिया है उसे इस प्रकार अपना लिया है कि वह लिया हुआ ज्ञात नहीं होता। अपने मूल स्थानसे भी परिष्कृत, सुन्दर एवम् कलापूर्ण स्वरूपमें वह व्यक्त हुआ है।'

पण्डितजीको क्या स्वीकार है, यह तो वे भली प्रकार जानते हैं; किन्तु यहाँ तर्कमें पड़कर उपाहासास्पद बननेकी इच्छा उनमें नहीं। ऐसी भूल करनेसे रहे। चुपचाप मस्तक झुकाकर सुनते गये।

'क्या शास्त्रोंकी तुम्बाफेरी किये बिना काम नहीं चल सकता।' पण्डितजीका उत्साह मन्द पड़ता जा रहा था।

'तब वह ग्रन्थ अशास्त्रीय होगा।' स्वामीजीने मुस्कराकर कहा—'तब आप, और सम्भवतः आपके साथ मैं भी चिल्लाऊँगा कि यह कल्पित है, शास्त्र-प्रामाण्यसे हीन; अतएव अनादरणीय है! इसमें पाखण्ड एवम् अधर्मका समर्थन हुआ है!'

'शास्त्रोंके वाक्य न चुराये जावें तो क्या फिर अधर्म-पाखण्ड अवश्य आ जावेगा?' पण्डितजी तनिक तीव्र हुए।

'धर्म और अधर्मके मध्यमें भी कोई स्थिति है? धर्मका कोई अंश ऐसा है जो शास्त्रवर्णित न हो?' स्वामीजी कुछ रुष्ट हो उठे। 'आज आप गहरी छान गये हैं! 'मानस' में श्रुति, स्मृति, तंत्र, पुराणादिके ही भावोंका व्यवस्थित रूपमें प्राकट्य हुआ है। उसका धर्म, दर्शन, सदाचार, कथाभाग तथा उपमा-दृष्टांत तक शास्त्रसम्मत हैं, इसीलिए मैं उसका प्रशंसक हूँ। इसी कारण उस पावन कृतिके सम्मुख मस्तक झुकाता हूँ।'

(२)

'उस दिन आप मेरे यहाँसे रुष्ट होकर चले गये थे, किन्तु यदि स्थिर विचार करें तो आपको मेरी बात तथ्यहीन नहीं जान पड़ेगी।' स्वामीजी और पण्डित भीमशङ्करजी आचार्य श्रीअन्नपूर्णा मन्दिरके बाहर मिल गये थे। स्वामीजीने ही वार्तालाप प्रारम्भ किया।

आज स्वामी मधुसूदन सरस्वतीजीका काषायोत्तरीय ढङ्गसे बँधा हुआ था। हाथमें वस्त्रवेष्टित दण्ड था। पीछे एक तरुण संन्यासी उनका कमण्डलु लिये हुए थे। बहुत-से काषायधारी तथा विप्रकुमार उनका अनुगमन कर रहे थे। आचार्य भीमशङ्कर चौड़े लाल किनारेका बैंगनी पाटाम्बर पहने तथा कौशेयोत्तरीय धारण किये थे। उनके

पीछे भी शिष्यवृन्द उनकी स्नानार्द्र धोती, जलकलश तथा फूलोंकी खाली डलिया लिये चल रहाथा।

स्नानान्तर विश्वनाथ एवं अन्नपूर्णाका अर्चन हो चुका था। स्वामीजीसे भेंट अभिप्रेत न होनेपर भी जब वे सन्मुख पड़ गये तो आचार्यको 'हरिः ॐ' कहकर अभिवादन करना पड़ा। साथ ही साथ चलने लगे।

'रुष्ट होकर जानेकी कोई बात नहीं थी।' पण्डितजीने कहा—'हमारे लिए तो आपके वचन ही प्रामाण्य हैं। अनुगतोंके लिए गुरुजनोंका अनुशासन ही शास्त्र है। उन वचनोंका मनन करनेके लिये उस दिन मैं चुपचाप उठ गया था।' स्वर, शब्द एवं कहनेकी शैली स्पष्ट कह रही थी कि यह सब कृत्रिम सौजन्यके अतिरिक्त और कुछ है नहीं। सम्भवतः पण्डितजी कोई भूमिका बना रहे थे।

'अच्छा, फिर आपने विचार किया?' घुमा-फिरा कर कहना स्वामीजोके स्वभावमें नहीं।

'अवश्य ही सेवकको कुछ निवेदन करना है!' पण्डितजीने शान्त स्वरमें कहा। पीछेकी अनुगत मण्डली उत्कर्ण होकर और यथाशक्य सिमट आयी।

'कहिये! इसी बहाने कुछ शास्त्रचर्चा हो।' स्वामीजीने हँसकर कहा।

'शास्त्रचर्चा तो नहीं, उस भाषा-ग्रन्थकी चर्चा अवश्य है!' पण्डितजी व्यंग्य कर चले। 'श्रीमान्‌ने कहा था कि उसमें सब कुछ शास्त्रीय ही है। शास्त्रोंसे बाहर उसमें कुछ नहीं!'

'कहा तो मैंने ऐसा ही था।' स्वामीजीने सरलतासे स्वीकार कर लिया।

'किन्तु मुझे तो ऐसा नहीं लगता।' पण्डितजीने अभिप्राय स्पष्ट किया—'फुलवारीका प्रसङ्ग, अयोध्या काण्डका तापस प्रसङ्ग, ऐसे कुछ स्थल किसी प्राचीन ग्रन्थमें नहीं।'

'ये रचयिताके हृदयसे निकले हैं!' स्वामीजीने बिना हिचकिचाहट कह दिया।

'तब ग्रन्थकी पूर्ण शास्त्रीयता कहाँ रही है?' शास्त्रीजीने समझा कि वे अब विजयी हुए।

'शास्त्रानुमोदितका अर्थ यह तो नहीं कि उसमें शास्त्रके ही शब्द हों?' स्वामीजीने शान्त स्वरमें कहा—'उसकी घटनाएँ, उपमाएँ, सिद्धान्त, आचारादि निगमागम-पुराण सम्मत हैं तथा उसमें कुछ और भी है। और यही उसकी मौलिकता, विशेषता एवं प्राण है। इसी और-ने उन शास्त्रीय वचनोंको सज्जित प्राणित किया है। फिर भी यह कुछ और शास्त्रविरोधी तो नहीं? वह तो उज्ज्वल भाव ही है?'

चुपचाप पण्डितजी सुनते रहे और एक चतुरष्कपर पहुँचकर बोले—'श्रीचरणोंमें उपस्थित होकर विनय करूँगा। अभी तो आज्ञा हो!' दोनों महापुरुष दो ओर अपने अनुगामियोंके साथ विभक्त हो गये।

(३)

'विश्वनाथ, ये तुम्हारी नगरीके विद्वद्रत्न और इनमें इतनी संकीर्णता !' आज दर्शन करनेके अनन्तर श्रीमधुसूदन सरस्वती विश्वनाथ मन्दिरके गर्भगृहसे बाहर हवन कुण्डके समीप बैठ गये थे। एक शिष्यने आसन बिछा दिया और वे सिद्धासन लगाकर आसीन हो गये। दण्ड एक छात्रने सम्हाल लिया था।

योगिराजने नेत्र बन्द किये। दर्शनार्थियोंकी भीड़ दूरसे ही उन्हें भी मस्तक झुकाकर एक ओरसे निकल जाने लगी। वहाँका तुमुल कोलाहल उनकी कर्णेन्द्रियको प्रभावित करनेमें असमर्थ था, क्योंकि मनोनिरोध हो चुका था।

पण्डितोंका श्रीगोस्वामीजीसे द्वेष तथा बार-बार उन्हें छेड़नेकी चर्चा स्वाजीके कानोंतक पहुँचती रहती थी। यह इतना प्रकाण्ड विद्वानोंका समुदाय भावहीन रहे. यह उन दयालुको सह्य नहीं हुआ। उन्हें पण्डितोंपर दया आती थी। प्रत्यक्ष ही उनमें भक्तिका सर्वथा अभाव परिलक्षित था।

आज काशीपतिके चरणोंमें इन सबके लिए प्रार्थना करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया था। शिष्योंको आश्रम जानेका आदेश देकर ही वे आसनपर विराजे थे। यह दूसरी बात है कि शिष्यवर्ग अभी तक वहीं गुरुदेवकी प्रतीक्षामें था।

नहीं। वे सदाके औढरदानी हैं।

'नन्दनन्दनमें अविचल अनुराग हो!' भला इस महान् वरदानके लिए और महादाता कहाँ मिलेगा।

'एवमस्तु' यह तो पहलेसे निश्चित था। 'किन्तु यह तो तुम्हें प्राप्त ही है पण्डित!' भक्तिमार्गके उन प्रकाण्ड पण्डितको भोलेबाबाने भी पण्डित कहकर ही सम्बोधित किया। जिसे व्रजेन्द्रनन्दनने श्रीमद्भागवतका भाष्य करनेकी आज्ञा दी हो, उसके लिए कैलाशनाथका 'पण्डित' उपयुक्त ही हुआ।

'अपनी राजधानीके इन सरस्वती-पुत्रोंपर आप कृपा नहीं करेंगे?' मधुसूदन सरस्वतीने उन ध्यानगम्यके पादाम्बुजोंमें प्रार्थना की। 'ये तुलसीदासकी उस भावमय कृतिका क्यों मोघ-विरोध करते हैं?'

'तुलसीकी कृति कौन-सी?' भोलेनाथ हँस पड़े—'तुम भी कोरे पण्डित ही रहे। अरे, वह तो मेरी कृति है। मैंने देववाणीमें उमाको उसका उपदेश किया था। अपनी

विशुद्ध बुद्धिसे तुलसीने उसको साक्षात् करके भाषामें केवल व्यक्त किया है।' आज यह नवीन रहस्य प्रकट हुआ।

'तब तो आपका यह प्रसाद इन विप्रोंको अवश्य मिलना चाहिये !' प्रार्थना उल्लम्भित हो उठी।

'तुम्हारा आग्रह व्यर्थ नहीं जायगा !' विश्वेश्वरने शान्त स्वरमें ही कहा—'किन्तु उसमें समय लगेगा। एक दिन विद्वान् विप्र-समुदाय उसे मस्तक अवश्य झुकावेगा; पर आज तो वह अधिकारी ही नहीं है।'

'अधिकारी·······?' मधुसूदन स्वामी प्रश्न पूरा कर नहीं सके।

'वह मेरे विशुद्ध मानसकी कृति है।' भगवान् शंकरने कहा—'उसका भाषामें परिवर्तन भी तुलसीकी मञ्जुल मतिने किया है। शुद्ध बुद्धिके बिना उसका महत्व प्रकट हो नहीं सकता।

'शास्त्रोंके ज्ञाता क्या उसे जाननेके अधिकारी नहीं ? अभी भी समाधान हुआ नहीं था।

'शास्त्रोंकी नियुक्ति तो बादमें भी होती है।' काशीपति कहते गये। 'शास्त्रार्थ एवं विद्याके मिथ्या गर्वसे पूरित मति भावकी अधिकारिणी नहीं। गर्वहीनका ही भक्तिमार्गमें प्रवेश है। 'मानस' का निर्माण बादके लिए नहीं। वह 'स्वान्तःसुखाय' है। अपने अन्तरके

गम्भीर प्रदेशमें अपार आनन्द है, उसे प्राप्त करनेकी जिसे इच्छा हो, उसीके लिए श्रीरामचरितमानसकी अभिव्यक्ति है। इसके आश्रयणसे स्वान्त:सुखानुभूति होगी।'

वह मूर्ति सहसा अदृश्य हो गयी। नेत्र खोलनेपर सम्मुख द्वारसे विश्वनाथजीकी मूर्ति दृष्टि पड़ती थी। उसीको स्वामीजीने मस्तक झुकाया।

७

सिद्धिदाता

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवर बदन।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धिरासि सुभ-गुन-सदन॥

सान्ध्य अरुणिमा उसके रक्तिम वस्त्रोंमें एकाकार हो उठी थी। विशाल-भालपर रोलीका तिलक, कण्ठमें रक्त-पुष्पोंकी माला और करमें कुंकुम रञ्जित अरुणाक्षत; दिशाएँ मानो उसीके यज्ञीय उपकरणोंसे सज्जित करदी गयी थीं। सम्मुखके कुण्डमें अग्निकी लाल-लाल लपटें उठ रही थीं। पात्रमें हविके स्थानपर बकरेका रक्ताक्त मांस था तथा घृत भी रंग दिया गया था। यज्ञके सम्पूर्ण उपकरण अरुण थे, ताम्रके नहीं, मणि-मण्डित सुवर्णके।

उसका शरीर कृष्ण वर्ण था। विवश था वह उसे अरुण नहीं बना सकता था। रक्त चन्दनका लेप किया था उसने सर्वाङ्गमें। केश कड़े और उठे हुए और रंगमें धूम्रारुण नेत्रोंसे स्पर्धा करनेवाले थे। माणिक तथा मूँगेके बहुमूल्य आभरणोंसे मण्डित था वह वज्र-कर्कश वपु।

अपने यज्ञका एकाकी यजमान, ऋत्विक्, होता, ब्रह्मा, आदि सब कुछ था। किसी दूसरेको सहायक नहीं बनाया था उसने। उसका स्वर स्पष्ट था, मन्त्रोच्चारण साङ्ग था। कौन उसे विधि बता सकता है?

देवताओंको आना पड़ता था—इच्छा न रहनेपर भी। मन्त्राकर्षण उन्हें प्रत्यक्ष प्रस्तुत होनेके लिए विवश करता था। वे आते थे और चुपचाप सिर झुकाकर अपना भाग दोनों हाथ फैलाकर ले लेते थे। जैसे कोई भीख ले रहे हों।

वह कर्मज्ञ आज यज्ञ दीक्षित था। सारी शत्रुता, सम्पूर्ण रोष उसने त्याग दिया था। बड़ी श्रद्धासे वह आज अपने चिर-शत्रुओंका आह्वान कर रहा था, अर्घ्य-पाद्यादिसे उनके सत्कारमें व्यस्त था।

उसका पर्वताकार शरीर, सुदृढ़ अभेद्य मांसपेशियाँ, दिशाओंको कम्पित करनेवाला सिंहनाद, आज सब सौम्य बन गये हैं। इतनेपर भी वह भयावह दिखायी देता है। सुरोंके लिए वह असुराधिप आज और भी भयप्रद हो गया है। उसके यज्ञके प्रत्येक उपकरणमें उन्हें निजका रक्त ही दृष्टिगोचर होता है।

वह अमर है, अजेय है, अक्षम्य है, फिर भी क्यों यज्ञ कर रहा है? क्या चाहिये उसे? सुरोंके समीप क्या है जिसे वह एक बार हुँकार करके दौड़नेपर छीन नहीं सकता? फिर क्यों वह उन्हीं पराजितोंको हविदानसे पुष्ट करने बैठा है? सुरेन्द्र तकका साहस नहीं था कि उसे 'वरं ब्रूहि' कह सकें। सब अपने भाग लेते और चुपकेसे खिसक जाते थे।

वह स्वयं एक विश्वकर्मा है। त्रिपुरका निर्माण करके उसने विश्वकर्मा तो क्या स्रष्टाकी कलाको चुनौती दे रखी

है। लौह, रजत एवं स्वर्णके उसके तीनों पुर अजेय हैं, अभेद्य हैं और इच्छागामी हैं। उनमें सौंदर्य घनीभूत हो गया है। अभावको वहांसे विदा कर दिया है। उनके अधिवासी पुर-प्रभावसे प्राकृति बाधा-विकारोंसे परे रहते हैं।

जिसके शरीर-बलकी कहीं समता नहीं और जिसके बुद्धि-बलका कोई पार नहीं, जो विज्ञान एवं कलामें विश्वके सिरपर पैर रखकर, खड़ा है, वही जब दिव्य बलका उपार्जन करनेके लिए तप, यज्ञ तथा अनुष्ठान करने लगे तो प्रतिपक्षी दलकी क्या दशा होगी ?

देवताओंका हृदय बैठा जाता था। वे यज्ञमें विघ्न करनेमें भी तो समर्थ नहीं थे। विघ्न होता है जब कहीं प्रमाद हो। छिद्र हो ! मयके यज्ञमें प्रमाद और छिद्र ? वह असुरराज न तो भ्रान्त होता और न श्रान्त ! उसकी बुद्धि और शरीर दोनों सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं। देवताओंका स्वर्गीय आनन्द अन्तरके विषादमें म्लान हो गया था। उन्हें हलाहलकी घूँटके समान उसकी हवि नित्य ग्रहण करनी पड़ती थी।

अन्ततः देवेन्द्रने बड़ी नम्रतापूर्वक देवगुरुके श्रीचरणोंमें अपना रत्नोज्ज्वल किरीट झुका दिया। उनके अनिमेष नेत्र अश्रु आकुल हो उठे थे। भगवान बृहस्पति गम्भीर हो गये। उनके वे शान्त लोचन दो क्षणको बन्द हो गये। देवराजको आश्वासन मिला।

(२)

'हविमें ये काले दाने कैसे ?' मय चौंका। उसने देखा कि उसमें चूहोंकी मेंगनी पड़ी हुई है। दूषित हवि फेंक दी गयी और उसने दूसरी प्रस्तुत की। उसे इस विघ्नके कारण विक्षेप एवं दुःख दोनों हुए।

पूजाके लिए पुष्पमाला उठायी तो वह खण्ड-खण्ड पड़ी थी। किसीने उसे टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे। पुष्पोंकी अवस्था भी अच्छी नहीं थीं। वे भी कुतर डाले गये थे। मयको बड़ा आश्चर्य हुआ।

अरणि अपवित्र हो गयी थी। कलकी बलिके मांसके टुकड़ोंका भोग उन छोटे जीवोंने उसीपर बैठकर लगाया था और अपनी दन्त-कण्डू दूर करनेके लिए उसको कहीं-कहीं कुरेद भी डाला था।

'यज्ञ दीक्षितको क्रोध नहीं करना चाहिये।' मयने स्वतः अपने आपको समझाया। इच्छा करनेपर वह इन नन्हें विघ्नकर्ताओंको समूल नष्ट करनेमें समर्थ था। उसे इनके विनाशक इन-जैसे ही किसी चतुर चपल जीवती रचनामें एक पलसे अधिक नहीं लगता।

दूसरे उपकरण प्रस्तुत होनेमें विलम्ब नहीं हुआ। हवि-पात्र आच्छादित हो गया। पुष्पोंके स्थानपर रत्न-पुष्प स्वर्ण-सूत्रमें गुम्फित कर लिये गये। दूसरी दिव्य अरणि अग्नि-मन्थनमें प्रयुक्त हो गयी। छोटे जीव अब कुछ कुतरने योग्य प्राप्त नहीं कर सकते थे।

'अब क्या हो ?' मय चिन्तामें पड़ गया। यज्ञ-कुण्डके समीप ही निर्माल्यमें-से एक चूहा भागा। उधर दृष्टि गयी। दो-तीन नन्हें लाल मांस पिण्ड कुलबुला रहे थे। वहाँ रहने दें तो कुण्डकी उष्णता उन्हें झुलसा देगी। हटानेपर सम्भव है, उनकी माता वहाँ तक न पहुँच सके। वे अपने प्रमादसे मर गये तो यज्ञमें विघ्न पड़ेगा।

अन्ततः असुरेश महायोगी था। उसने बच्चे सुरक्षित हटाये और उनकी माताको अपने मनोबलसे बाध्य किया वहाँ पहुँचनेके लिए। इतना करके पुनः उसने आचमन किया और प्रोक्षण भी।

'अप सर्पन्तुते भूता……' बार-बार जप एवं-पोली सरसों छिड़कना व्यर्थ हुआ। विघ्नोंकी कमी हुई नहीं। पता नहीं कहाँसे हिमालयके इस तुषार धवल शृङ्गपर भी कीड़ों-मकोड़ोंकी बाढ़ आ गयी। मानस-सरका उत्तर तट भी यज्ञके लिए अनुपयुक्त स्थान सिद्ध होने लगा।

अग्नि प्रज्ज्वलित होते ही उसमें पतिंगे कूदने लगे। वह यज्ञके उपयुक्त रह नहीं गयी। असुरेन्द्रको अत्यन्त अनुताप हुआ। 'भगवान् शङ्करके कैलाशके समीप भी उनके गण विघ्न करते हैं ?' वह समझ गया था कि यह सब उपद्रव दैवकोपसे हैं।

यज्ञ-मण्डपसे उठा वह। जाकर मानसरोवरमें डुबकी लगायी। गीले वस्त्रों ही बिल्वपत्र लेकर अपने मणिमय शिवलिङ्ग पर चढ़ाये और वहीं पृथ्वीपर ही पद्मासन लगाकर बैठ गया। नेत्रोंसे अश्रु-धाराएँ बह चलीं।

दो क्षण—कुल दो क्षण बैठा रहा वह। नेत्र उसने खोल दिये। उठकर हँसते हुए खड़ा हो गया और आकाश मार्गसे सीधा दक्षिणकी ओर कदली वनके लिए चल पड़ा। देवताओंने देखा कि थोड़ी ही देर पश्चात् दैत्यराज पुनः अपनी यज्ञभूमिमें श्रुवा लिये बैठा है। उसके दाहिनी ओर एक नवजात श्वेत गजेन्द्र शिशुका छिन्न मस्तक पड़ा है और यज्ञके सभी उपद्रव शान्त हो चुके हैं।

(३)

'आपकी अलौकिक प्रतिभा ही अब सुरोंको शरण दे सकती है!' देवेन्द्र दोनों हाथ जोड़े नत-मस्तक खड़े थे। पीछे देवताओंका अञ्जलि-बद्ध साश्रु-लोचन समुदाय था। कैलाशके महावटकी छायामें अमरावती एकत्र हो गयी थी।

'आशुतोष समाधि लगाये बैठे हैं और अम्बा पता नहीं क्यों असुरेशको पुत्रके समान चाहती हैं।' देव सेनापति अपने अनुजसे अनुरोधकर रहे थे—'मेरी लज्जा तो अब तुम्हारे ही हाथ है!'

'असुरेन्द्रने मेरी अग्रपूजा नहीं की, यह सच है।' मङ्गल-मूर्तिने कहा—'किंतु अब तो उन्होंने मुझे महाबलि दे दी है। मैं अकारण किसीसे शत्रुता नहीं करता!'

'तब क्या आपकी शरण आकर भी हम निराश ही लौटें?' खिन्न स्वरमें देवगुरुने पूछा।

'मैं उपाय बता सकता हूँ!' गणपतिने कहा।

'बुद्धिके अधिष्ठातासे हमें ऐसी ही आशा थी!' सोल्लास भगवान् भुवन-भास्करका स्वर गूँजा। 'त्रिपुरोंने हमारे पथको पहलेसे क्लिष्ट कर रखा है। उससे परित्राणका मार्ग भी पाना चाहते हैं।

'दैत्यराजका यज्ञ तामस है!' गणेशजीने उपहारके मोदकोंमें-से एकको सूँड़से उठाकर मुखमें रखते हुए कहा—'आपका सात्विक यज्ञ उससे अधिक शक्ति आपको प्रदान कर सकता है।'

सबने उन श्रीपदोंमें मस्तक झुकाये और सीधे सुमेरु शिखरपर पहुँचे। विश्वकर्माने देखते-देखते मण्डप बना दिया और देवगुरुकी अध्यक्षतामें स्वर्गाधिपकी आहुतियाँ दिशाओंको सुरभित करने लगीं।

'क्यों देवताओंके मुखपर मन्द मुसकान तथा प्रसन्नता झलकने लगी है?' उधर अपने यज्ञमें भाग लेने आये हुए देवताओंको देखकर दैत्यपति विचारमें पड़ गये थे। इधर सविधि आहुति देनेपर भी देवेन्द्र स्वतः अपना भाग लेने अब नहीं पधार रहे थे। उनका भाग अग्नि द्वारा ही पहुँचाया जाता था।

'हुँ!' मयने कुतूहलवश ध्यान किया। उससे कुछ छिपा नहीं रह सकता था। महायोगी था वह। 'तुमने बलि देनेके बदले श्वेत गजशिशुकी आरम्भमें पूजा की है! इस प्रकार तुमने 'करिवर वदन'को प्रथम पूजा दी और अब भगवान् आशुतोषको अपने यज्ञसे सन्तुष्ट करना चाहते हो? अच्छी बात!'

देवता भी सात्विक यज्ञ नहीं कर सके थे। उनका यज्ञ भी सकाम होनेके कारण राजसिक था। उन्होंने उस सिद्धिदाताकी सत्य सूचनाका ठीक-ठीक मर्म समझा नहीं था। कामनाके आवेगमें क्रियाकी सात्विकताको ही वे सब सतोगुण मान बैठे थे।

'प्रभु तो आशुतोष हैं। उनको तुष्ट करनेके लिए यज्ञ हो तो क्या और न हो तो क्या ? फिर अभी वे समाधिमें स्थित है !' दैत्यराज अपने-आप कह रहा था। 'माँ तो माता हैं ! उन्हें रुष्ट होना आता ही नहीं। उनके लिए सभी पुत्र समान हैं। अतः मैं अब उन बुद्धिराशिको ही सन्तुष्ट करूँगा जो तुम्हारे और मेरे समान रूपसे गुरु हैं।'

उसने सब यज्ञके उपकरण वहीं छोड़ दिये। उस अधूरे यज्ञको पूर्ण करनेका कोई प्रयास किया नहीं। यज्ञ अधूरा छोड़नेके अपराधका परिमार्जन करनेके लिए उसने डमरू उठाया और—

'शिव हरे भव शङ्कर पाहिमाम्'

तीन प्रहर तक नाचता और गाता रहा, और फिर उसने एक गोबरकी छोटी मूर्ति बनायी और उसे लेकर मानसके पश्चिम तटपर जाकर बैठ गया। अब मन्त्र बदल गया था—

गणानांत्वा गणपति····।

× × ×

जहाँ श्रद्धा और विधि दोनों हों—वहाँ सफलता सुनिश्चित ही है। भगवान् शिवकी समाधि छूटी। सुरोंका आकर्षण उन्हें खींच रहा था। नन्दीकी पीठपर व्याघ्रचर्म डालकर वे बैठ गये। सुमेरुके लिए प्रस्थान करते-करते उन्होंने देख लिया था कि गणेशजीका मूषक भी उन्हें लिये कहीं दौड़ा जा रहा था। शीघ्रताके कारण कुछ पूछ न सके।

'वरं ब्रूहि !' महेन्द्रकी साधना सफल हुई। उन्होंने पारिजात पुष्पोंकी अञ्जलि वृषभध्वजके चरणोंपर उत्सर्ग कर दिया।

'त्रिपुरोंके आघातसे त्रिलोक त्रस्त हो उठा है। उसे त्राण दें !' सम्मिलित रूपसे सुरेन्द्रने सुरोंकी ओरसे याचना की। मयको वे त्रिपुरसे पृथक् नहीं गिनते थे और न ऐसा करनेका कोई कारण ही था।

'वे तीनों पुर दिव्य सहस्र वर्षमें केवल एकबार एक क्षणके लिए परस्पर मिलते हैं।' पितामह ब्रह्माजीने बताया—'इस सन्धिकालके अतिरिक्त वे अजेय और अनश्वर रहेंगे, ऐसा वरदान मैं दे चुका हूँ। सन्धिकाल आने ही वाला है।'

'मैं इसी आगामी सन्धिकालमें उसका नाशकर दूँगा ?' भगवान शङ्करने वरदान दिया। 'समस्त प्राणियोंके त्रासको मिटानेके लिए मैं अस्त्र ग्रहण करूँगा। उपयुक्त उपकरण प्रस्तुत किये जावें !' वृद्ध ब्रह्माजीके परामर्शके अनुसार देवता रथ, धनुष प्रभृति संग्रह करनेमें लग गये।

'वत्स ! तुम कहाँसे आ रहे हो ?' कैलाश लौटते ही पशुपतिने मूषकसे उतरते हुए गणपतिसे पूछा ।

'दैत्यराज मयके समीपसे !' गणेशने पूज्य पिताका पादाभिवन्दन करते हुए उत्तर दिया—'दैत्यपति, अभी उपासनामें तल्लीन थे । उन्हें आपके समाधिसे उत्थित होनेका पता नहीं था । समाचार पाते ही मानससे कमल लेने दौड़े गये हैं । आते ही होंगे ! श्रीचरणोंमें उनकी अनुपस्थितिका अपराध क्षम्य है !'

'तुमने उन्हें कोई वरदान तो नहीं दिया ?' विश्वनाथका स्वर सशङ्कित था । वे अपने पुत्रके स्वभावसे भली प्रकार परिचित थे ।

'ऐसा कैसे सम्भव था कि मैं रिक्त लौट आता !' गणेशजीने भोलेपनसे कहा—'दैत्येन्द्र मेरा स्मरण कर रहे थे ! निष्कपट, निष्काम स्मरण । वे शरीरकी सुधि भूल चुके थे । कहनेपर भी वे कुछ माँगनेको प्रस्तुत न हुए । मेरा आग्रह व्यर्थ गया ।'

'तब क्या तू सूखा ही लौटा ?' जगदम्बिकाका मुख अरुण हो चुका था । उनका स्वर कह रहा था कि वे पुत्रकी इस अनुदारताको सह नहीं सकेंगी ।

'नहीं तो माँ' लम्बी सूँड माताके हाथोंमें रखते हुए गजाननने कहा—'मैं असुरेन्द्रको कल्पान्त तक अमर जीवन एवं असुरकुलकी समृद्धिका वर बिना माँगे दे आया हूँ । वैसे माँ, सभी सिद्धियाँ तो मेरे बिना दिये भी मेरे स्मरणसे मिल जाती हैं, यह तुम जानती ही हो ।'

'त्रिपुरसे जगत्‌में जो त्राहि-त्राहि मची है, वह भी सोचा था तुमने वरदान देते समय ?' रुद्रके नेत्रोंमें अरुणिमा झलक उठी थी।

'मुझे आराधना ही दीखती है, अपराध नहीं।' आशुतोषके सुयोग्य सुवनने उत्तरमें सिर झुकाकर नम्रतापूर्वक कहा—'रोष और हिंसा मैं देख ही नहीं पाता। मैं तो श्रद्धा और विश्वास ही देखता हूँ। आपने मुझे 'हाँ' कहना ही सिखलाया है, 'ना' कहना नहीं।'

'तुम्हीं कौन-सा आगा-पीछा सोचा करते हो किसीको कुछ देते समय ?' उमाने वक्र विलोचनसे त्रिनयनको देखते हुए कहा—'व्यर्थ ही क्यों मेरे एकरदन शुभ-गुण-सदन सुतको कोसते हो !' उन्होंने उस तुन्दिल पुत्रको गोदमें उठा लिया।

'मैं सुरोंको त्रिपुर-नाशका वरदान दे आया हूँ !' खिन्न-स्वरमें शशाङ्कशेखरने कहा और मस्तक झुकाकर कुछ सोचने लगे।

(५)

तनोतु नः शिवः शिवम् ।

दूरसे मेघगम्भीर ध्वनि आ रही थी। महेन्द्रादि समस्त सुरगण कैलाशपर वटमूलमें मृगचर्मपर आसीन साम्ब सदाशिवके श्रीचरणोंमें उपस्थित हो चुके थे। उन्होंने त्रिपुर-विनाशके लिए दिव्य रथादि प्रस्तुत कर

लिये थे। अभी सुरोंकी सुमनपूरित अञ्जलि उन पादपद्मोंमें रिक्त नहीं हो सकी थी। सबका ध्यान स्वरने आकर्षित किया।

एक सुदीर्घ शरीर, कज्जल वर्ण, लौह पुरुष ताण्डव ध्वनिमें विभोर विद्युत् गतिसे आया। निःसंकोच सुरोंकी भीड़को चीरता वह वटमूलमें पहुँचा। साम्बशिवके चारु चरण सहस्रदल कमलोंसे आच्छादित होगये और उन्हीं पुष्पोंपर मस्तक रखकर वह काष्ठकी भाँति गिर पड़ा।

'उठो वत्स !' एक साथ उमा, गणपति एवं शिवके कर उसके मस्तकपर पड़े। उठकर वहीं घुटनोंके बल बैठ गया।

'वर माँगो !' आशुतोष तुष्ट हो चुके थे।

'प्रभो ! सायुध सोपकरण रथ प्रस्तुत है !' महेन्द्रने शीघ्रतापूर्वक सुमनाञ्जलि चढ़ाते हुए निवेदन किया। वे घबड़ा उठे थे वरदानकी प्रस्तावना सुनकर। अवसर नहीं देना चाहते थे दैत्यराजको।

'वत्स, मैंने सुरेन्द्रको त्रिपुर-नाशका वरदान दे दिया है !' बड़े खिन्न स्वरमें भगवान् शङ्करने सम्मुख बैठे असुरेश्वरसे कहा।

'मुझे आराध्यके तोषमें सुख है ?' उस महाप्राणके मुखपर विषादकी रेखा दिखायी नहीं पड़ी।

'मेरा स्मरण दैत्येन्द्रको कल्पान्त अमरसिद्धि दे चुका !' माताकी गोदमें बैठे-बैठे ही गजाननने देवताओंको चौंका दिया—'साथ ही असुर वैभव अभिवृद्धि पायेगा।'

'आपने पुर-नाशका वरदान दिया है।' आद्या दैत्यराजपर सानुकूल थीं -'पुर-नाश होकर भी मय एवं उनका कुल-वैभव सुरक्षित रह सकता है।'

'रहेगा देवि !' आशुतोष प्रसन्न होकर बोले—'वर माँगो पुत्र !'

'श्रीचरणोंमें मेरा अनुराग कभी कम न हो।' दानवपतिने देवताओंकी चिन्ताका भार कम कर दिया।

'एवमस्तु !' वहाँ दूसरे शब्दको सुननेकी आशा कभी किसीको हो ही नहीं सकती थी।

× × ×

त्रिपुरारिने त्रिपुरोंको भस्म कर दिया; किन्तु उनका दिव्य ज्योतिर्लिङ्ग लिये मय आज भी आनन्दपूर्वक पातालमें उनकी अखण्ड आराधनामें तल्लीन है। विश्वकी कोई शक्ति उसके शान्ति सुखमें व्याघात नहीं पहुँचा सकती।

त्रिपुर गया; परन्तु सुतलका वैभव अमरावतीका उपहास करता है। देवता उन दैत्योंके वैभवका कठिनतासे स्वप्न भी देख सकते हैं। मयके गणपति-स्मरणने न केवल उसे—अपितु सारे दैत्यवंशको औत्पत्तिक सिद्ध बना दिया है।

=●=

९

दयामय

मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़ै गिरवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवौ सकल कलि-मल-दहन ॥

जहाँ न दिन होता और न रात्रि, जहाँ सदा सर्वदा एकरस शीतल स्निग्ध प्रकाश वर्तमान रहता है, जहाँके आनन्दमें सुख एवं दुःखकी कल्पना भी प्रवेश नहीं पा सकती, जहाँ शैशव-जन्म-जरा-मृत्यु-भय जैसे शब्द सुनायी नहीं पड़ते, जहाँ दैन्य-भय-सोङ्कच-अहं तथा त्वं जा नहीं सकते, जहाँ चंद्र-सूर्य-अग्निका प्रवेश नहीं है, मैं उसी श्वेत द्वीपकी बात कहता हूँ।

रज एवं तमकी चर्चा करना व्यर्थ है, वहाँ सत्वका भी प्रवेश नहीं। सब कुछ दिव्य है, अलौकिक है, शीतल तथा धवल है। यह सब वहाँ क्यों और कैसे है? इसका उत्तर बुद्धि नहीं दे सकेगी। श्रद्धा कहती है—उस महिमामयकी महिमा!

उसी अचिन्त्य दिव्य-लोककी बात है जहाँ एक ही रङ्ग है—श्वेत। एक ही भाव है—आराधना। एक ही जीवन है—आराध्यका सान्निध्य। एक ही सत्ता है—उस सत्तामयसे अभेद। उसी दिव्यलोककी बात कह रहा हूँ।

प्रणवकी गम्भीर गुञ्जार लिये घण्टा बज रहा था। सहस्र-सहस्र नर-नारी स्फटिक पात्रोंमें अक्षत, चन्दन,

दधि, मालतीकुसुम, पुण्डरीकमाला, कपूर सजाये श्वेत परिधानमें भगवदीय हीरक मन्दिरकी ओर मनोवेगसे दौड़े जा रहे थे।

मन्दिर-प्राङ्गणकी परिखामें प्रवाहित दुग्ध-प्रवाहमें उनके पाद प्रक्षालित हो गये। चन्द्रकान्त सोपानोंपर बिना चरणचिह्नोंकी छाप छोड़े उन्होंने मन्दिरमें प्रवेश किया और पूजाका अपार सम्भार अपने आप उस आराध्यके चरणोंमें सज्जित हो गया। उपासकोंके उपहार प्रसाद होकर उन्हींको भूषित करने लगे। सामध्वनिसे मन्दिर मुखरित हो उठा।

वाणीकी एक अस्पष्ट झंकार, नाम-गानकी ध्वनि और फिर खडाऊँकी मन्द खटपट। सबने देखा कि देवर्षि नारदकी बड़ी लम्बी चोटी श्रीचरणोंपर पड़ी है और वे प्रणत पड़े हैं। वीणा कहीं पीछे छोड़ दी होगी उन्होंने। खड़ाऊँ निश्चित ही परिखाके उसी पार पड़ी होगी। उनकी गति यहाँ भी अबाध है।

'यह क्या ? प्रभु तो हैं ही नहीं। लोगोंने देखा— वह दिव्य-सिंहासन रिक्त पड़ा है। एक कम्प-सा हुआ सभी शरीरोंमें और वे जैसे थे, वैसे ही खड़े रह गये। उनमें चेतना नहीं थी, मानों असंख्यों मर्मर मूर्तियाँ नाना भावभंगीमें चित्रित कर दी गयी हों।

कैतव रहितं प्रेम, नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति-कुत्र विरहो सत्यपि को जीवति॥

वह तो मनुष्यलोक नहीं, वहाँ तो स्वार्थ एवं कपटका प्रवेश नहीं, फिर उस अहैतुक प्रेममें वियोग कैसे सह्य होता ? बड़ी देरमें देवर्षिने मस्तक उठाया—'प्रभु क्यों मौन हैं ?' वे आश्चर्यमें थे। सिंहासन रिक्त देखकर हृदय धक्से होगया। चारों ओर दृष्टि फेरी। सब-के-सब निर्जीव खड़े थे।

'मुझसे क्या अपराध हुआ ?' हृदय चिल्ला रहा था, किन्तु वाणी अवरुद्ध थी ! नेत्रोंके गिरते हुए बिन्दु उस उज्वल रत्न-भूमिमें उज्वल रत्न होकर जटित होते जा रहे थे। देवर्षि जानते थे कि यह सम्पूर्ण निर्माण विशुद्ध प्रेमाश्रुओंके द्वारा ही हुआ है। ये स्फटिक एवं चन्द्रकान्त, सब नेत्रोंके द्रवसे घनीभूत हुए हैं।

धम्से देवर्षि वहीं बैठ गये। उस मायातीत लोकमें भी शोक ? लीलामयकी लीला ! देवर्षिने निश्चय किया कि वे शरीरत्याग कर देंगे। जिसके आते ही प्रभु अंतर्हित हो गये और उनके वियोगमें इतने उनसे अभिन्न भक्त शरीरको त्याग चुके, उसके अपराधका भी कोई ठिकाना है ?

पद्मासन लगाया उसी दिव्य भूमिपर। अपानको प्राणसे मिलाकर मनको हृदयमें एकत्र किया और वहाँसे प्राण वायुको कण्ठमें एक क्षण रोककर भ्रूमध्यमें ले गये। प्रयत्न तो करना था नहीं—मनके साथ वायु सहस्रारमें पहुँच गया।

एक मुहूर्त्त और लगाना था। योगाचार्य देवर्षि ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण पहुँचा चुके थे। केवल विन्दु-वेध करके निकल जाना था। सहसा एक कोमलकर मस्तकपर पड़ा और किसी अद्भुत शक्तिने पुनः प्राणोंको बलात् नाभि-मूलमें लौटा दिया।

× × ×

[२]

'मेरा वध होगा और इन छोकरोंके द्वारा ?' दैत्यपति हिरण्यग्रीव हँसा। हिरण्याक्षको भगवान् बाराहने वैकुण्ठ भेज दिया था और हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था। सुरोंका प्रबल होना असह्य होनेपर हिरण्यग्रीवने असुरोंका नेतृत्व सम्हाल लिया था। आचार्य शुक्रको अधिष्ठाता बना कर उसने यज्ञ किया और मन्त्र-बलसे ब्रह्माजीको आना पड़ा।

'मुझे कोई वरदान नहीं चाहिये ! उचित अहंकारी दैत्यने कहा—'मुझे केवल आप यह बतला दें कि मेरी मृत्यु कैसे और किसके द्वारा होगी ?'

'हिरण्याक्षके दो पुत्र हैं !' वृद्ध ब्रह्माजीने देखा कि इस उद्धत दैत्यको न बतानेसे भी अपमान होगा। 'उनमें-से हिरण्यमाली द्वारा उत्तेजना पाकर हिरण्यरोमा तुम्हारा वध करेगा। क्योंकि तुमने उनके पितृव्यके सिंहासनपर अधिकार कर रखा है।'

ब्रह्माजी झटपट अपने हँसपर बैठे और उड़ गये। वे और अधिक प्रश्नोत्तरके लिए प्रस्तुत नहीं थे। दैत्यने भी उन वयोवृद्धको तंग करना उचित नहीं समझा। उसका उद्देश्य पूरा हो गया था।

दैत्यकुलके विरोधका प्रश्न था। दैत्येश्वरके पुत्रोंका वध कोई भी सहज स्वीकार नहीं कर सकता था। गृह-कलह उपस्थित करनेमें कोई लाभ नहीं था। अतः हिरण्यग्रीवने हिरण्यमालीको धूर्ततापूर्वक विष देकर मूक बना दिया और हिरण्यरोमाके पैर काट कर उसे पर्वतोंसे घिरे बन्दीगृहमें चुपचाप छिपा आया।

दुर्बल असुर देवताओं द्वारा पराजित होकर पर्याप्त कष्ट एवं अपमान भोग चुके थे। उन्होंने नायकका विरोध करना श्रेयस्कर नहीं समझा, क्योंकि हिरण्यग्रीवके आधिपत्यमें बहुत कुछ अपना नष्ट ऐश्वर्य उन्हें उपलब्ध हो चुका था।

यज्ञ-भाग छीने जाने लगे, वेदध्वनिपर १४४ लगा दी गयी। हवन करना अवैध ठहराया गया और ऋषियोंके आश्रम राजद्रोहके स्थान घोषित किये गये। गोरसकी अपेक्षा रखते एवं अत्यधिक उपयोग करते हुए भी गायें वध्य हो गयीं। न्यायका अर्थ हो गया शक्ति।

दुर्बलोंकी सम्पत्ति राजकुलकी शोभा बढ़ाने लगी। लोगोंके प्राण कौतुककी वस्तु हो गये। धर्मका नाम लेना अपराध मान लिया गया, जगत् संत्रस्त हो उठा।

प्रजापति कांप गये। असुरोंकी शक्तिके बाहरका यह रोग था।

एक दिन देवर्षि नारद उस उन्मद दैत्यपुरमें भटकते हुए जा पहुँचे। शत्रुका समाचार देने वाला सभीको प्रिय होता है। दैत्यपतिने देवर्षिका स्वागत किया, उनकी केवल उन्हींकी वीणाकी भगवन्नाम-झंकार दैत्योंको रुष्ट नहीं करती।

'आजकल महेन्द्र कहाँ हैं ?' दैत्यने पूछा! वह अमरावतीपर आधिपत्य करके भी सन्तुष्ट नहीं था। सुरपतिको बन्दी बनानेकी धुन सवार थी उसके सिर।

'आपके प्रतापके सम्मुख वे कहीं टिक नहीं पाते हैं!' देवर्षिने कहा—'कभी हिमालय एवं कभी विन्ध्यकी कन्दराओंमें भटकते फिरते हैं!' उन्हें कहीं टिकनेका तो अवकाश होता नहीं। वीणा उठायी और रमते राम हुए।

'इसका उद्धार कैसे होगा ?' देवर्षि सोचते जा रहे थे। 'वध भी इसका दैत्य-पुत्रोंके हाथसे होना है और उपासना यह करनेसे रहा!' यह पहला ही अवसर था कि उन्हें कोई मिले और उसे प्रभुके पावन पदों तक पहुँचनेका प्रबन्ध किये बिना वे उसके पास से चल पड़े थे।

'दयामयकी असीम दयाके अतिरिक्त उपाय कोई दिखलायी नहीं पड़ता।' अन्ततः कुछ सोचकर उन्होंने श्वेत द्वीपकी ओर प्रस्थान किया।

× × ×

[३]

'हिरण्यकशिपुके लौटनेकी कोई आशा नहीं है। अब तो उनके तपःस्थलपर एक मांस-चर्म-विहीन अस्थिपुञ्ज मिट्टीमें दबा हुआ रह गया है!' अभी तक हिरण्यग्रीव दैत्यराजके प्रतिनिधि रूपसे शासन कर रहा था। राज-मुकुट तथा सिंहासन उसे उपलब्ध नहीं हुए थे।

'हमें अब अपना दूसरा सम्राट् निश्चित कर लेना चाहिये। बिना पूर्णाधिकार-प्राप्त-शासकका नेतृत्व पाये हम सुरोका समूलोच्छेद नहीं कर सकेंगे!' उसके अन्तरका भाव स्पष्ट हो गया था। इसलिए उसने आज समस्त असुरकुलको सहभोजके बहाने एकत्र किया था।

दूसरे किसीमें विरोधकी शक्ति नहीं थी। वैसे भी वह सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुका था। अभिषेककी सब सामग्री प्रस्तुत हो गयी थी। चुपचाप उसने सब कर लिया था। अनुनय-विनयके पश्चात् आचार्य शुक्र भी प्रस्तुत हो गये थे।

'कुछ दिन और दैत्यराजकी प्रतीक्षामें क्या हानि है?' वयोवृद्ध दैत्यमन्त्रीने कहा। सम्भवतः वह सुमाली था।

'अनावश्यक विलम्बसे क्या लाभ?' हिरण्यग्रीवने उत्तेजना दबाते हुए उत्तर दिया—'दैत्येशकी अस्थियाँ भी पृथ्वीके गर्भमें दब चुकी हैं और आप सब यह जानते हैं कि आचार्यकी संजीवनी विद्या युद्धमें मरे लोगोंको ही प्राणदान कर सकती है। तपस्वीके द्वारा शरीर त्यागकर

ब्रह्मलोक पहुँचने वाला जीव उसके द्वारा लौटाया नहीं जा सकता।

'जैसी आपकी इच्छा ?' मन्त्रीने नम्रतापूर्वक मस्तक झुका दिया। कोई भी इस शीघ्रतासे सन्तुष्ट नहीं था, किन्तु विरोध करनेमें किसीको कोई लाभ भी दिखलायी नहीं देता था। पुरोहितने सिंहासन त्याग कर रखा और हिरण्यग्रीव बढ़ा उसपर बैठनेके लिए।

'आप ठहरें ! सबने आश्चर्यपूर्वक देखा कि विद्युत सभामें चमक गयी। बड़े जोर की गड़गड़ाहट हुई। सम्भवत: उसीके प्रभावसे हिरण्यमालीने पुन: वाणी प्राप्त करली थी। वह बड़े उच्च स्वरमें चिल्ला रहा था। इतने दिनों तक न बोलनेकी कमी मानो आज ही पूरी कर लेगा।

'अभी यह निश्चय नहीं हुआ कि दैत्यपति निष्प्राण हो गये। उनकी अस्थियोंमें अब भी जीवन होना शक्य है और उनके आराध्य उन्हें पुन: जीवित कर सकते हैं।' बात दैत्योंके हृदयमें बैठ गयी। वे बोले तो नहीं पर हृदय सबका सहमत हो गया।

'वे न भी जीवित हों तो उनके आत्मज तो हैं ही। यह सिंहासन उनके पश्चात् उनके बड़े पुत्र ह्लादको मिलना चाहिये और यदि वे आप लोगोंको इस योग्य न जँचें तो फिर अनुह्लाद को।' नि:शंक व्याख्यान दिये जा रहा था।

'तुम अभी बच्चे हो।' हिरण्यग्रीव चिल्लाया—'सिंहासन सदा शक्तिशालीका होता है। उसपर बच्चे नहीं बैठाये जाते। वह खेलनेका स्थान नहीं और मिट्टीमें गड़ी अस्थियोंमें जीवनकी सम्भावना मूर्खता है।'

'सीधे क्यों नहीं कहते कि मैं बलपूर्वक दैत्यराज बनना चाहता हूँ!' उस बालकने दो टूक पूछा।

'अच्छा, ऐसा ही सही!' असुरके नेत्रोंसे अङ्गारे बरसने लगे। उसने दाँत पीसते हुए कहा।

'हम इसे कभी नहीं सहेंगे।' दैत्यबालक भी कम रोशावेशमें नहीं था। 'कल तक जो हाथ बाँधे खड़ा रहता था, उस सेवकके द्वारा राज्यासन अपवित्र होने नहीं दिया जायगा। तुम सम्राट् नहीं बन सकते।'

'मैं देखता हूँ कि कौन मुझे ऐसा करनेसे रोकता है।' दैत्यने दोनों हाथोंसे मुकुट उठाया और सिंहासनकी ओर बढ़ा।

'मैं रोकता हूँ।' एक वज्र-कर्कश ध्वनि गूँजी। मुकुट दोनों हाथोंसे छूटकर गिर पड़ा। सबने देखा कि सम्मुखके पर्वतपर-से अपने कटे पैरोंसे हिरण्यरोमा इस प्रकार खटाखट उतरता आ रहा है, जैसे समतल भूमिमें नट दो लाठियोंपर चलता हो।

× × ×

[४]

'क्या सम्वाद है गन्धराज?' मंदराचलकी एक विशाल गुहामें, जिसका द्वार मालती लताओंके जालसे

आच्छन्न हो रहा था, बैठे हुए इन्द्रने प्रवेश करके अभिवादन करते हुए चरसे सशङ्क स्वरमें पूछा। उनके साथ ही समीप बैठे सुरगुरु, देवसेनापति तथा अन्य जो दस-बारह प्रधान सुर साथ थे, उनकी भी उत्सुक दृष्टि उस गन्धर्वके मुखपर पड़ी, जो शत्रुका रहस्य ज्ञात करनेके लिए नियुक्त था।

वहाँ न सुधा कलश था और न सुरांगनाओंका विलास-वैभव। अमरावतीकी श्री यहाँ कहाँ? देवगुरु एवं प्रधान देवताओंके साथ सुरेन्द्र मृगचर्म बिछाये बैठे थे। उन लोगोंका मुखतेज गुहामें धुँधला प्रकाश किये हुए था। वे अम्लान मुख भी चिंता-शबल हो रहे थे। न हवि प्राप्त होती थी और न कल्पवृक्ष-सुमनोंकी सुरभि। अवश्य ही सुमनोंकी सुगन्धि गुहामें पूर्णतः पूरित थी। सुरोंके दिव्य शरीर क्षीण हो गये थे। वे सदा सशङ्क रहा करते थे।

'उत्तेजित दैत्योंने हिरण्यरोमा तथा हिरण्यमालीके प्रोत्साहनसे हिरण्यग्रीवके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण कर लिया!' चरने सोल्लास समाचार सुनाया। सुरेन्द्र आनन्दातिरेकके कारण अपने मृगचर्मपर वीरासनसे उछलकर बैठ गये।

'अकेले हिरण्यग्रीवको उनका सामना करना पड़ा!' चरने आगे सुनाया—'किन्तु पंगु हिरण्यरोमाके ठूँठे पैरोंमें पता नहीं कहाँकी स्फूर्ति तथा हाथोंमें अनोखी शक्ति आ गयी थी। अन्ततः उसके आघातोंने हिरण्यग्रीवको विमुख किया।'

'वह भागकर इधर तो नहीं आ रहा है?' महेन्द्रके स्वरमें शङ्का और उत्साह दोनों ही था।

वह उलटे देवर्षिके चरणोंमें ही गिर पड़ा। देवर्षि बहुत घबराये। वे भगवत्पार्षदोंको पैर नहीं छूने देते थे और कोई ऐसा यहाँ करता भी नहीं था। आज यह नयी विपत्ति आयी। दूसरे वे इन पार्षद-श्रेष्ठको पहचानते भी तो नहीं।

'आप यहाँ आये किस उद्देश्यसे ? पहले अपनी बात तो पूरी कर लें !' प्रभुने पुनः हँसते हुए देवर्षिको प्रेरित किया।

'जो सदासे श्रीचरणोंसे विमुख रहा हो, जिसने सदा सर्वदा प्राणियोंको पीड़ित ही किया हो, गो-ब्राह्मणोंका विरोधक रहा हो, जिसे शरीर एवं सम्मानके परे कुछ सूझता ही न हो तो उसका उद्धार कैसे हो ?' देवर्षिने पूछ लिया।

'उसके उद्धारका आप संकल्प कर लें—बस !' वे लीलामय हँस पड़े—'अन्ततः ऐसा भाग्यशाली है कौन ? किसके लिए आपके हृदयमें इतनी करुणा उमड़ चली है ?'

'प्रभु उपहास न करें।' देवर्षिने कहा—'वह शक्ति आपकी कृपामें है और मैं उस कृपाकी भिक्षा माँगना चाहता हूँ दैत्यनायक हिरण्यग्रीवके लिए।'

'कृपा—मेरे पास कृपा है क्या देवर्षि ?' प्रभुका स्वर गद्गद हो उठा। 'मेरी कृपा तो आप जैसे मेरे अंतरङ्ग सुहृदोंके श्रीचरणोंमें चली गयी। मैं स्वतन्त्र हूँ कहाँ ?'

वह पार्षद फूट-फूटकर रो रहा था। देवर्षि बड़े आश्चर्यमें थे—'इस आनन्दलोकमें यह विषाद क्यों ?' फिर

भी वे प्रभुके गोलमोल वचनोंसे अधिक उलझनमें पड़ गये थे। उस उलझनको पहले सुलझाना आवश्यक था।

'तब क्या मैं निराश लौटूँ!' देवर्षिने पुनः प्रार्थना की। उनका स्वर आर्द्रतर हो चला था।

'आप भी मेरा परिहास करते हैं?' प्रभु हँसे—'किसी कामको स्वयं करके उसके लिए मुझसे पुनः प्रार्थना करना आपकी भोली प्रकृतिको अच्छा शोभा देता है।'

देवर्षि जैसे सोतेसे जग पड़े। 'दयामय!' उनका स्वर भर गया। रहस्य प्रकट हो चुका। उस पार्षदको दोनों भुजाओंसे उठाकर उन्होंने हृदयसे लगा लिया।

11

शेष-शायी

नील सरोरुह-स्याम, तरुन-अरुन-बारिज-नयन।
करौ सो मम उर धाम, सदा छीर सागर-सयन ॥

'ये किसका भाग होगी ?' सभीके मुखोंपर एक ही प्रश्न था। सबके अन्तर आकुल हो रहे थे। अमृतकी इच्छा लुप्त हो चुकी थी और वासुकीको विश्राम मिला था। सुरों और असुरोंके हाथ ढीले पड़ गये। सबने नागको छोड़ दिया और अर्ध-विक्षिप्तसे दौड़े।

कोई किसीका सङ्कोच करना नहीं चाहता था। देवासुरोंमें प्रतिस्पर्धा तो स्वाभाविक थी, किन्तु सुरों एवं असुरोंमें परस्पर मौखिक कलह प्रारम्भ हो गया था। प्रत्येक सुर अपनेको महेन्द्रसे तथा प्रत्येक असुर बलिसे श्रेष्ठ बतलाने लगा था।

संघर्षके लक्षण देखकर श्रीहरिने निर्णय कर दिया कि--'ये उसका भाग होगी, जिसका स्वयं वरण करें!' और उन्होंने अकेले ही एक हाथसे वासुकीकी पूंछ तथा दूसरेसे मस्तक पकड़कर मन्दराचलको घुमाना प्रारम्भ किया। क्षीराब्धिमें बड़ी-बड़ी हिलोरें उठने लगीं। झागसे निकले नवनीतोंके पर्वत-सदृश खंड इतस्ततः उछलने लगे।

किसीने वस्त्र दिया, किसीने आभूषण। कोई भोजन ले आया और कोई स्नानार्थ जल। कोई ताम्बूल लेकर

उपस्थित हुआ और कोई पुष्पमाला। सभी अपनी-अपनी सेवाओंसे उन्हें तुष्ट करना चाहते थे। पद्माने सबकी सेवा स्वीकार कर ली। मानो वे स्वामिनी हों और इन सेवकोंसे सेवा लेनेका उन्हें जन्मजात अधिकार हो।

अन्ततः रमाने अपने कर-कमलोंमें कमलकी एक लम्बी मोटी-सी माला उठायी। सबके नेत्र एकत्र हो गये। उत्सुकतावश सबके मस्तक अनजानमें आगेको बढ़ आये। चरण, कर, मुख प्रभृति सर्वाङ्ग जिनका पद्मके समान था, वे कमल-मालके रूपमें स्वयं किसे आभूषित करेंगी?'

'तुम लोगोंमें तो धर्म नहीं!' सबसे आगे उपस्थित दैत्योंको उन्होंने निराश कर दिया—'और बलिमें शील-सदाचार होते हुए भी उनका सङ्ग दूषित है। वे श्रुति-विरोधियोंके समर्थक हैं।'

'तुम लोग भीरु एवं स्वार्थी हो।' देवताओंको भी टका-सा उत्तर मिला। 'महेन्द्रके साथ तुम सब बार-बार असुरोंसे पराजित होनेपर अपने कुटुम्ब एवं गृहोंको छोड़कर भाग जाते हो। तुम्हारे यहाँ जानेका अर्थ बार-बार पर-पक्षसे अपमानित होना है।'

'तुम सब तो सेवक हो।' एक साथ श्रीने यक्ष, किन्नर तथा गन्धर्वोंको, जो उछल-कूद कर रहे थे, डांट दिया। तुम्हारे न कुलका कुछ पता है और शील तो तुममें होगा ही क्या? ये तुम्हारे क्रूर नाग बन्धु भी दुस्साहस करते हैं।'

'मानवोंमें कुछ सद्गुणी, सुकुलोद्भव सुन्दर हैं।' देव एवं असुर चौंके कि क्या ये मानवी होंगी ? वहाँ कोई भी मानव उपस्थित नहीं था। 'उनकी आयुका कोई ठिकाना नहीं है। आज हैं तो कल नहीं। वे मर्त्य जो ठहरें।'

'ऋषि तो मर्त्य नहीं हैं ?' किसीने एक ओर से व्यंग किया। 'मैं तपस्या करना नहीं चाहती और वे प्रायः क्रोधी होते हैं। बात बातमें शाप दे डालना उनके लिए बहुत सरल है।' श्रद्धापूर्वक रमाने हाथ जोड़े।

'तब हमारे प्रभु ही ठीक रहेंगे।' श्रीने देखा कि नन्दीश्वर एक ओर खड़े हैं। 'भगवान् शंकरमें सभी गुण हैं, यह मैं स्वीकार करती हूँ, किन्तु उनका वेश ? मुझे सर्पोंकी फुङ्कारसे भय लगता है। नृमुण्डमाल एवं रक्त टपकता चर्म मनमें घृणा उत्पन्न करता है। उन चन्द्रमौलिके श्रीचरणोंमें मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करती हूँ।'

अन्ततः दृष्टि सागर-तटकी ओर गयी। वहाँ सर्व-गुणालय समुद्र मन्थनकर रहे थे। रमा उधर ही बढ़ी। सबने देखा कि वे उन परम पुरुषपर विमुग्ध हो चुकी हैं। यह क्या ? वे तो अपने कार्यमें तल्लीन हैं। समीप पहुँचनेपर भी उन्होंने गम्भीर स्वरमें कहा—'आप किसी को चुन लें ! मुझे तो एकाकी रहना ही पसन्द है !' लक्ष्मीका मुख उतर गया।

× × ×

एक विशाल इन्दीवर उज्वल दुग्ध हिलोरोंपर उछल रहा था। दुग्धसिन्धुके वक्षपर जैसे किसीने एक बहुत

बड़ा नीलम रख दिया हो और वह श्वास-प्रश्वासके साथ ऊपर नीचे होता हो। कितना भव्य लगता था वह नीलकमल।

इन्दिराने अपने लीला-कमलको धीरेसे लहरोंपर डाल दिया और एकटक उसकी ओर देखने लगीं। योगमायाकी इच्छासे वह लीला-कमल हिलोरोंकी थपकियाँ लेता हुआ उधर ही बढ़ा, जहाँ वह नील-कमल एकाकी विहार कर रहा था।

उदासीन मुखपर एक हल्की प्रसन्नताकी रेखा दौड़ गयी। हाथोंकी वरमाला जो उदासीन भावसे स्फटिकपर पड़ी हुई थी, पुनः हाथोंमें आ गयी। नेत्रोंमें अपार उल्लास भरकर सिन्धुजाने उस ओर देखा, जहाँ इन्दीवरसे जाकर उनका रक्तिम लीला सरोज लग गया था और दोनों साथ-साथ क्षीराब्धिमें लहरोंपर खेल रहे थे।

वे उठ खड़ी हुईं। उन्होंने फिर मस्तकका वस्त्र सम्हाला। वरमालाको दोनों हाथसे लिये नीची दृष्टि किये वे चल पड़ीं। एक बार फिर सुरासुरोंमें हलचल मच गयी। लेकिन व्यर्थ—उन्होंने किसीकी ओर देखा नहीं और न इस बातपर ध्यान दिया कि कौन किस प्रकार उन्हें देख रहा है तथा कौन हाथ जोड़े कुछ कहनेको आतुर खड़ा है।

'क्यों देवि!' अपने सम्मुख वरमाला सम्हाले, अपने ही चरण-नखोंमें दृष्टि लगाये, फैली हुई दोनों विशाल भुजाओंके मध्यमें स्थित उस सौन्दर्य प्रतिमासे पूर्ण पुरुषने

शान्त गम्भीर स्वरमें प्रश्न किया—'आप पुनः कैसे उपस्थित हुईं !'

निष्ठुरताकी भी कोई सीमा होती है, किन्तु जब अपने कार्यके सिद्ध होनेका कोई मार्ग न हो तो सब कुछ सुनना पड़ता है। पद्म-सम्भवाने कुछ कहा नहीं, वाणीमें बोलनेकी शक्ति थी भी नहीं। गर्दन घुमाकर उन्होंने एक बार पयोनिधिकी ओर देखा, मानो कह रही हों कि 'पितः! क्या इसी अपमानके लिए तुमने अपनी सुताको यहाँ भेजा है ?'

'ओह !' परम पुरुष खिल-खिलाकर हँस पड़े। उन्होंने वह सरोजलिंगित नीलकमल देख लिया था। आप तो सब कहीं अपना ही हृदय देखती हैं !' पता नहीं क्यों वह इन्दीवर तटकी ओर ही आ रहा था।

हृदय धक्से हो गया। लाल कमलका पता नहीं था। 'वह हो क्या गया ? कमल तो डूबा नहीं करता !' पद्मजा घूमकर एक टक तटकी ओर देखने लगी थी। 'पता नहीं अब क्या होने वाला है ?' आशा अब भी अटकी हुई थी।

इन्दीवर अनुमानसे बहुत अधिक बड़ा था। दूरसे दिखायी पड़ी उसके गर्भमें लालिमा ! एक बार उल्लास पुनः लौट आया। समीप आनेपर दिखायी पड़ा—उस महाकमलकी कर्णिकाके समीप एक नहीं—दो खिले हुए पंकज हैं। सम्भवतः लहरोंने उन्हें उठाकर वहाँ पहुँचा दिया है।

'मुझे अपनी सहचरीसे कोई ईर्षा न होगी !' रमाने समझा कि आदिपुरुष उनसे कह रहे हैं कि तुम्हें स्वीकार करनेका अर्थ है कि तुम दो हो जाओ। उनकी वाराहावतारकी पत्नी धराका पता श्रीको लग भी चुका था। वे केवल स्वीकृति चाहती थीं।

'आप भ्रांत हुई हैं !' जनार्दनने उसी सांकेतिक भाषामें कहा—देवता परोक्षप्रिय होते हैं। 'वे दोनों तो मेरे अङ्ग ही है ?' लक्ष्मीने इन्दीवराभके खिले हुए नवीन लाल कमल-युग जैसे दोनों नेत्रोंको देखा। उनके नेत्रोंको देखा। उसके नेत्रोंसे टपटप बूँदें गिरने लगीं।

× × ×

अंधकार—घोर अंधकार ? दिशाएँ उस अंधकारके उदरमें लीन हो चुकी थीं। पता नहीं कबसे एक अचिंत्य सार्वभौम कालिमा अखण्ड साम्राज्य कर रही थी। न सूर्य थे और न चन्द्र। पृथ्वी तथा तारकोंका कहीं पता न था। प्राणियोंकी चर्चा व्यर्थ है। उस अपार एकतामें काल एवं दिशाओंकी कल्पना करनेके लिए एक भी मस्तिष्क था नहीं।

अपार अट्टहास करता हुआ उदधि एवं अंधकार, केवल दो रह गये थे। उत्तुङ्गोंमें शब्द था, जलकी उत्ताल तरङ्गोंके कम्पनसे वायुकी लहरें भी दौड़ती थीं। अग्नि एवं पृथ्वी नहीं थे ! थे भी तो अव्यक्त। नभ, वायु तथा जलका ही व्यक्तिकरण हुआ था। उदधिके अतुल उदरमें तब तक न तो रत्न थे और न जीव।

ब्रह्माण्डके पार जहाँ क्षीराब्धि है—दूधकी धवल हिलोरें सदा उठा करती हैं। उसके अंतरमें दुग्धोज्वल सहस्र फणधर भगवान शेष अपने भोगको कुण्डलकार किये, मस्तक भाग उठाये तथा फणोंको छत्रकार फैलाये अवस्थित हैं। शाश्वत कालसे एकरस, स्थिर। उनके फणोंकी मणियोंका शीतल स्निग्ध प्रकाश दुग्ध लहरियोंको और उज्वल बना देता है।

एक सुकोमल नीलकमलके समान सुन्दर पीताम्बर परिधान वेष्टित चतुर्भुज पुरुष उसी शेषशय्यापर आवे लेटे, मंद-मंद मुसकराया करते हैं। गर्दन एवं मस्तकको शेषके सिरके उठे हुए भागसे सटाये, चरणोंको लम्बे फैलाये, सुखपूर्वक पड़े रहते हैं। उनके मस्तकपर वह सहस्र फणोंका छत्र लगा रहता है। वे न उठें और न हिलें। सदा सोये रहते हैं।

उनके चरणोंके समीप योगमाया बैठी रहती हैं। वे श्रीचरण उन्हींकी क्रोड़में ऐसे पड़े रहते हैं, मानो दो खिले हुए कमल हों। अपने कोमल-करोंसे उन पूज्यपदोंको धीरे-धीरे दबाती रहती हैं वे और साथ ही उन इन्दीवर सुन्दरके खिले हुए पद्म-लोचनोंकी ओर एकटक देखती भी रहती हैं। कभी कोई संकेत हुआ और पूर्ण हो गया।

एक दिन—लेकिन दिन कहना ठीक नहीं। वहाँ दिन-रात्रि होते ही नहीं। उस समय कहीं भी दिन-रात्रि का भेद नहीं था सूर्यकी उत्पत्ति जो नहीं हुई थी। वहाँ तो सदा एकरस एकरूप रहने वाले शेषशायी सरकार रहते

हैं। हाँ—तब एक समय आदिपुरुषके नेत्रोंमें कुछ भाव आया। योगमायाने उसे पढ़ा और मस्तक झुका लिया।

उसी परम पुरुषकी नाभिसे एक कमल निकला। वह कमल बढ़ा और क्षीराब्धिके वक्षपर आकर खिल गया। उसमें एक बालक निकला। उसके चार मुख थे। आँखें फाड़-फाड़कर बस चारों ओर देख रहा था। उस ज्योतिर्मय कमलके प्रकाशमें देखा कि उसके कमलके अतिरिक्त चारों ओर जल है।

आदिपुरुषके नेत्रोंपर क्रमशः भाव आ रहे थे। योगमाया आज्ञा पालनमें प्रस्तुत थी। संकल्पमात्र शिशुको तप करनेका आदेश मिला। उसने दिव्य सहस्र वर्ष तप किया। उसके अन्तरमें सम्पूर्ण सृष्टिका दर्शन कराया गया और वह स्रष्टा अन्तर्जगतको बाहर साकार रूप देने लगा।

'मैं ही तो सब कुछ करती हूँ!' आदि शक्तिकी भावना पुरुषसे तटस्थ होकर अपनेमें आयी। अहङ्कारका जन्म हुआ। 'यदि पुरुष आदेश न भी दें तो क्या निर्माण-कार्य रुका रहेगा?' देव, दैत्य, यक्ष राक्षसादि सभी बन चुके थे। पृथ्वीका भी प्राकट्य हो चुका था और यहाँ प्रथम सतयुगका प्रारम्भ भी हो चुका था। ब्रह्माको नूतन कुछ बनाना नहीं था। केवल स्वरचित्तकी आवृत्ति करनी थी।

सहसा योगमायाने देखा कि उनके हाथ रिक्त हो गये हैं। श्रीचरण उनमें हैं नहीं। न तो आदिपुरुष हैं और न शेष-शय्या। नहीं—नहीं—नहीं? उन्हें लगा कि क्षीराब्धि

की वे हिलोरें जो अब तक उनमें आस-पास आकर सुन्दर सौंध बनातो लौट जाया करती थीं; उन्हें लेने दौड़ी आ रही हैं और वे उनसे एक होती जा रही हैं !

× × ×

जड़ने नियम बना लिया है। अवश्य ही वह जड़ है और उसमें कुछ करनेकी शक्ति नहीं; फिर भी कहींसे चेतना प्राप्त हो रही है। पेड़ उगता है, बढ़ता है और निश्चित समयपर पुष्पित एवं फलित होता है। इन क्रियाओंका प्रेरक तटस्थ चेतन उपलब्ध नहीं होता। फलतः इसे हम प्रकृति कहते हैं।

अनेक नियम जड़ हो गये। वे परिवर्तनहीन एवं निश्चित थे। चेतन-(जीव),ने, जिसमें पर्याप्त मस्तिष्क-शक्ति थी, उनका पता लिया और वह क्रमशः स्वयं जड़का संचालक बनने लगा।

शक्ति ही सर्वोपरि मान ली गयी। श्रद्धा एवं भक्ति अनावश्यक तथा बुद्धिहीनताकी प्रतीक मानी गयी। क्योंकि सबके मूलमें निहित पुरुष अलक्ष्य हो गया था। सात्विकता स्वाङ्ग समझी जाने लगी और राजसिकता महत्ता।

सुरोंकी श्री नष्ट हो गयी। असुरोंने उनपर आक्रमण किया और अमरावतीपर बलिका साम्राज्य हो गया। सुरोंको घर-द्वार छोड़कर भटकते फिरनेको बाध्य होना

पड़ा और इस दीनहीन अवस्थामें उन्होंने सर्वेशकी शरण ली।

अन्तरके आदेशने सुझाया कि क्षीरसिन्धुका मन्थन अमरत्व प्रदान कर सकता है; किन्तु सात्विकताका यह गम्भीर विवेचन भी राजसकी अपेक्षा करता था। अमृतके प्रलोभनपर असुरोंसे सन्धि हो गयी।

कथा बहुत प्रसिद्ध है। विस्तार नहीं दूँगा। बाधा और विघ्न बहुत आये, पर 'निर्बलके बलराम'। असुरोंको भी उन श्रीहरिपर विश्वास करनेके अतिरिक्त कोई उपाय दीख नहीं पड़ता था। अन्ततः किसी प्रकार मन्थन प्रारम्भ हुआ।

पहिले तो हलाहल ही निकलता है। कष्ट-अयश आदि ही प्रत्येक सात्विक कार्यमें आते हैं। उसे स्वीकार तो कोई शिव ही कर सकता है। लेकिन वही तो उसका आभूषण है। बिना अमृत पिये ही वह अमर है।

फिर क्या था---रत्न-पर-रत्न निकलने लगे। जो जिसके योग्य था, जो जिसका अधिकारी था, उसने उसे प्राप्त कर लिया। यह सब एक शाश्वत घटना है। इतिहास इसीकी पुनरावृत्ति किया करता है।

पद्मजा चौंकी। वे उसी समुद्रमन्थनसे प्रकट हुई थीं। जिन दुग्ध-लहरियोंने उन्हें अपनेमें एक कर लिया था, वे ही आज उनके चरणोंमें बार-बार सिर पटककर क्षमा-याचना कर रही हैं।

ये सब-के-सब उन्हींके बच्चे तो हैं? छिः! बड़ी लज्जा आयी उन्हें। 'ये उछृङ्खल उन्हीं की इच्छा करने लगे

हैं !' उनका कोई दोष भी तो नहीं है ! वे जानते भी तो नहीं कि वे कौन हैं और उनके इन प्राकट्यका क्या रहस्य है ?

सम्मुख वही आदिपुरुष खड़े हैं। 'तब क्या इन्होंने अभी तक मुझे क्षमा नहीं किया ?' अब वे जा भी कहाँ सकती थीं। वे अनन्त कालसे उन्हींके श्रीचरणोंमें बैठी रहनेवाली हैं। उन चरणोंके अतिरिक्त और गति भी क्या है ?

उन्होंने आज्ञाकी अपेक्षा नहीं की। दोनों हाथ उठाकर वह सरोजमाल परमपुरुषके गलेमें डाल दी और झुककर उनके श्रीचरण पकड़ लिये। वे भी मुसकरा उठे। एक साथ सभी देव-दैत्योंने उच्चस्वरसे जयध्वनि की।

× × ×

'तुम चले कहाँ गये थे ?' वही क्षीरसिन्धु, वही शेषशय्या और वही सदा ससुरालमें लेटे रहने वाले आदि-पुरुष। उनसे उनके चरणोंको दबाती हुई योगमाया किंचित वक्र दृगोंसे देखती हुई पूछ रही थीं।

'मैं तो कहीं आता जाता हूँ नहीं।' वे लीलामय बड़ी गम्भीरतापूर्वक बोले—'मैं तो सदा यहीं इसी शय्यापर ऐसे ही पड़ा रहता हूँ ! मुझे कहीं जानेकी न तो इच्छा होती और न आवश्यकता ही !'

'मैं यों ही भटकती फिरती थी ?' कुछ प्रेम पूर्ण रोषसे रमाने कहा। उनके नेत्रोंमें तनिक अरुणिमा छलछला आयी थी तथा एक कोनेमें जलका एक कण भी। 'सागरके तटपर मुझे बार-बार लौटा देनेका नाटक कोई और कर रहा था और मैंने वरमाला भी सम्भवत.... ।'

'यह अच्छी रही !' वे सर्वेश हँसते हुये बोले—'तुमने स्वयं तो अहंका उत्थान किया और उसे अपने और मेरे मध्यमें डाल लिया ! अब उलटे मुझे ही कोसने लगी हो। अहङ्कारसे तादात्म्य करके तुम तद्रूप हो गयी। मेरी चेतनाकी अपेक्षा हुई और अब कारण भी मैं ही हूँ ?'

'पहेली मत बुझाओ नाथ !' चरणोंपर मस्तक रखते हुए सिंधुसुताने कहा। बात बहुत कुछ समझमें आ गयी थी। इतनेपर भी रहस्य अभी अप्रकट था। वे सब कुछ स्पष्ट समझ लेना चाहती थीं। 'मैंने अपराध किया और उसका दण्ड भी भरपूर पा लिया। अब तो इस दासीपर करुणामयकी कृपा ही होनी चाहिये !'

'लोग कहते हैं कि समस्त क्रियाओंकी कर्त्री तुम्हीं हो। समस्त अभिव्यक्ति तुम्हारा रूप है और साथ ही तुम सदा यहाँ मेरे समीप भी उपस्थित रहती हो। अचल, एकरूप।' प्रभुने प्रकारांतरसे समझाया।

जैसे एक यवनिका उठ गयी। अभिव्यक्ति है कहाँ ? प्रलय-कालीन वह अन्धकार भी नहीं है। एक क्षीरसिंधु है और उसमें वे शेष-शायी शयन किये हैं। और कोई सत्ता ही नहीं है। किसी सत्ताके लिए कहीं अवकाश नहीं।

सृष्टि है, जीव हैं, क्रीड़ा है। सब कुछ है और है कुछ भी नहीं। वही एक शेष-शायी है। योगमायाने देखा कि उनकी सार्थकता उन तरुण-अरुण नयन-सरोजोंकी ओर एकटक देखते रहनेमें ही है। दृष्टि वहाँसे हटतेही कुछ-का-कुछ हो जाया करता है!

'हृदयेश!' उन दोनों पाद पंकजोंको भुजाओंमें कस कर हृदयसे लगाते हुए उन्होंने कहा—'मेरे हृदयमें आप सदा इसी रूपमें निवास करें। उसमें अब कभी अहङ्कारका उदय न हो।' नेत्र-सलिलने उन पंकज पदोंको प्रक्षालित कर दिया।

प्रभु तो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' की प्रतिज्ञा करने वाले ठहरे। उन्होंने मुस्कराकर कमलाका कोमल-कर अपने कर-कमलोंमें लिया और उन्हें अपने हृदयमें बैठा लिया।

उस इन्दीवराभ दिव्य देहके भीतरसे उन जगज्जननी-की स्वर्णिम कांति झलकती हुई वक्षकी जिस रोमराजिको अपने रङ्गोंमें रंजित करके स्वर्णिम बना देती है, श्रुति एवं संत उसे ही श्रीवत्स कहते हैं। वे श्रीवत्स-लांछित नीलकमल श्याम, तरुण अरुण वारिज नयन वैसे ही सदा शेषशय्या तथा भक्तोंके हृदय पर्यङ्कपर लेटे रहते हैं।

मदनारि !

कुन्द इन्दु सम देह, उमा-रमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करौ कृपा मर्दन-मयन॥

'अभयके लिए तुम्हें प्रलयङ्करका ध्यान करना चाहिये।' गुरुने गम्भीर मुद्रासे कहा—'मृत्युकी सतत स्मृति मानवमें वैराग्यका उदय करती है और मानवको विकारों-विषयोंके कंटकमय पथसे बचाये रहती है। वह तुच्छको छोड़कर शाश्वतके लिए उत्सुक बनता है! उसे क्षणिक सुखके प्रति घृणा एवं नित्य शान्तिके लिए अभीप्सा प्राप्त होती है।'

'रुद्रका ध्यान क्या हृदयमें उसकी अभिवृद्धि नहीं करेगा?' दधीचिने बद्धकरोंसे अपनी शङ्का उपस्थित की। 'मानस ध्येयके साथ तादात्म्य ही तो स्थापित करता है और रुद्रके साथ उसका तादात्म्य क्या सात्त्विक होगा?'

'तुम्हारी विचार-सरणि सामान्य है और भ्रान्त भी।' गुरुने सुयोग्य शिष्यको चेतावनी दी—'विनाश वैसा नहीं है जैसा कि तुम देखते हो। नव सृष्टिकी भूमिकाको ही प्रलय कहते हैं। पतझड़ वसन्तका अग्रचर मात्र है। रुद्र देवता हैं जीवित ज्योति एवं जागृतिके!'

'उनके ध्यानसे हृदय कोप तथा विनाशकारी भावनाओंको ग्रहण नहीं करेगा ?' अब भी शिष्यका समाधान हो नहीं सका था। 'क्रोध कामका छोटा भाई ही तो है। वह भी साधकका एक भयङ्कर शत्रु है।'

'नहीं वत्स !' स्नेह-स्निग्ध स्वरमें गुरुने समझाते हुए प्रारम्भ किया—'कोप अहं एवं पर-दृष्टिसे होता है। विश्वके अणु-अणुमें विनाश, परिवर्तनकी लीला चल रही है। रुद्रके इस अखण्ड ताण्डवका साक्षात् कर लेनेके पश्चात् कोपके लिए कोई आधार बचता ही नहीं।'

'रुको।' दधीचि कुछ कहना चाहते थे। उन्हें रोकते हुए गुरुने कहा—'तुम्हें विनाशसे भीत नहीं होना चाहिये ! साधकको सर्वप्रथम उसीकी आवश्यकता होती है। जन्म-जन्मसे तुमने अपने संग्रहालय (चित्त) में पशुत्वके अतिरिक्त क्या संग्रह किया है ? अपना देवत्व तुम सदा उपभोग करते चले आये, जो कुछ भी सत् संग्रह हुआ, व्यय हो गया। अब अवशेषको ध्वंस किये बिना यह नित्यका भव्य प्रासाद किस भूमिपर प्रस्तुत होगा ? तुम्हारे लिए विनाश सबसे बड़ी आवश्यकता है, जो तुम्हारे हड्डी-मांसमें घुले-मिले माया-मोहके अन्तिम कण तक भस्म कर दे !

'क्या यह सत्त्वकी सृष्टिके द्वारा नहीं हो सकेगा ? शिष्यके स्वरमें विनम्र प्रार्थना थी।

'हो सकेगा !' गुरुने शान्त शब्दोंमें कहा—'यह भी एक मार्ग है; किन्तु कण-कणमें रुद्रका नृत्य देखना उतना

कठिन नहीं है, जितना स्रष्टाके दिव्यकर तीव्र वैराग्य तो महाकालके ध्यानमें निहित है। सात्त्विकताका संचार दूसरे गुणोंका अभाव तो करेगा; लेकिन वह पथ है कठिन !'

'वह कठिन भी तो मृदुल है !' सच्ची बात तो यह है कि स्वभावतः मानव अन्तर सरस सुन्दरको देखना चाहता है और भयङ्करसे दूर भागता है।

'देखता हूँ कि तुम अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिसे अभी परित्राण नहीं पा सके हो !' गुरुने कुछ कोमल स्वरमें कहा– 'अस्तु ! तुम प्रभुके कुन्दके समान उज्ज्वल तथा चन्द्रमाके समान शीतल स्निग्ध प्रकाशमय स्वरूपका ध्यान करो ! वह तुममें सात्त्विक शक्तिका सञ्चार करेगा !'

ध्यानकी साङ्गोपाङ्ग विधिका उपदेश करके गुरुने पञ्चाक्षरकी दीक्षा दी। शिष्यने आनन्दाश्रु-पूरित नयनोंसे उनकी चरण-रज भालपर लगायी और आज्ञा लेकर महेन्द्र पर्वतपर साधना करनेके लिए चल पड़े।

× × ×

'प्रभु !' चारों ओर अखण्ड हिमका उज्वल साम्राज्य था। एक शृङ्ग दूसरेसे मस्तक ऊँचा करनेकी होड़कर रहा था। निर्मल गगनमें सूर्यकी किरणें चमक रही थीं और हिम-शिलाएँ आधार द्रवित होनेसे खिसकती जा रही थीं। शिलाओंकी ही स्थान-स्थानपर सरिता नीचे

जा रही थी। यही शिलाएँ नीचे जाकर जल हो जावेंगी। कहीं तृणका नाम तक न था। इस प्रदेशमें समतल भूमि और उसपर वह जटाएँ लटकाये, किसी तपस्वी-सा सघन पत्रोंकी छाया एवं लाल-लाल कोंपलों तथा फलोंसे भरा वट-वृक्ष भगवान् शङ्करकी महिमा ही थी। वृक्षपर एक भी पक्षीका घोंसला नहीं था। इस प्रदेशमें कोई पक्षी क्यों आने लगा। वृक्ष मूलमें वेदिकापर व्याघ्राम्बर डाले वे देव-देव शान्त मुद्रामें आसीन थे। भगवती उमाने आकर उनके पावन पदोंमें प्रणाम किया।

'आओ देवि!' स्वागतके स्वरोंमें बोलते हुए चन्द्रमौलि तनिक खिसक गये। वामाङ्गमें बैठने भरको आसन रिक्त हो गया। पार्वतीने उसे भूषित किया। सम्मुख कुछ दूरीपर उत्तुङ्ग श्वेत वृषभ बैठा हुआ चुप-चाप अपने स्वामीकी ओर देख रहा था। उसका उज्वल पुष्ट शरीर ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो स्वयं हिमालय इस रूपमें अपनी सुता एवं जामाताकी सेवासे कृतार्थ होने उपस्थित हुआ है।

'आज कहीं चलेंगे नहीं नाथ? प्रभुको प्रसन्न देखकर गिरिराज कुमारीने प्रस्तावना की—'मेरी इच्छा आज घूमनेकी हो रही है! यदि स्वामीको असुविधा न हो!! उन्होंने मुस्कराते हुए मस्तक झुकाया।

'मुझे क्या असुविधा होनी है!' उसी शान्त मुद्रामें सदाशिव कर रहे थे—'तुम अवश्य घूम आओ!

नन्दी तुम्हें स्वेच्छानुसार ले जायगा ।' अपना नाम सुनते ही वृषभ उठ खड़ा हुआ । उसने एक अंगढ़ाई ली और प्रस्तुत हो गया ।

'उहुँ !' हँसते हुए अम्बिकाने हाथ जोड़कर कहा— 'एक बार एकाकी जाकर बहुत भोग चुकी हूँ । अब कभी ऐसी भूल नहीं करनेकी । सर्वेश इस दासीको क्षमा करें । मुझे कहीं नहीं जाना है ।'

'अच्छा !' योगीश्वर हँस पड़े 'तो तुम मुझे भी कहीं लेके चलना चाहती हो । कहाँ चलनेकी इच्छा है ? चलना ही है तो आओ आज क्षीर सागर तक हो आवें ? श्रीहरि-के दर्शन किये मुझे इधर बहुत समय हो भी गया है ।' कुछ जानते हुए भी सर्वज्ञ परिहास कर रहे थे ।

'जैसी स्वामीकी इच्छा ।' संकुचित स्वरमें कहते हुए भवानी कह ही गयीं 'मेरा विचार तो आज महेन्द्र गिरिकी ओर चलनेका था ; किन्तु नाथको जहाँ रुचे वहीं उपयुक्त है ।' उनके स्वरोंमें अनुरोध था ।

'कोई विशेष बात है क्या ?' प्रभुने मन्द स्मितके साथ प्रश्न किया । 'यह विचार किसी भाग्यशालीको कृतार्थ करनेके लिए तो नहीं उदित हुआ है ? कौन है वह जो यहाँ अन्नपूर्णाको आकुल किये हैं ?'

'आप तो जान बूझकर पूछते हैं ।' उमाने संकुचित होकर मस्तक झुका लिया ।' एक साधारण मानव है ।

वह प्रभुका ध्यान करते हुए वहाँ कठोर तपस्या कर रहा है। एक बार उसको देखना चाहती थी।

'जिसने घोर तप किया है, वह उसके कष्ट एवं महत्त्व को जानता है।' प्रभुने हँसते-हँसते कहा—'तुम्हारी सहानुभूति तप स्त्रियोंकी ओर होना स्वाभाविक ही है। अपर्णा न हो तुम ? अच्छी बात। श्रीहरिके दर्शन फिर हो जायँगे, चलो। तुम्हारे उस तपस्वी कुमारको ही देख आवें !'

संकेत पाकर वृषभ समीप आकर बैठ गया। तुरन्त कहींसे एक चर आया और उसने बड़ा-सा शार्दूल-चर्म नन्दीकी पीठपर डाल दिया। आगे उमाको बैठाकर हाथोंमें डमरू तथा त्रिशूल लिये आशुतोष भी बैठ गये।

× × ×

'अरे भाग जा यहाँसे ?' हाथोंमें चमकता हुआ भाला लिये, काले पर्वतके समान, लाल-लाल नेत्र तथा खड़े गैरिक केशों वाला वह भयङ्कर दैत्य सम्मुख खड़ा धमका रहा था—'किसने तुझे यहाँ बैठनेकी कहा ?'

'मैंने तुम्हारा कोई अनिष्ट किया हो, ऐसा तो मुझे स्मरण नहीं !' तपस्वी दधीचिके स्वरमें तनिक भी कम्प नहीं था। वे अविचल शान्त बैठे थे। 'उपयुक्त स्थल देखकर मैं स्वयं यहाँ आ गया हूँ और आज एक वर्षसे

यहीं साधना कर रहा हूँ। मेरे द्वारा तुम्हारी कोई हानि न होगी !'

'तू भागता है या ···· ! भालेकी नोंक हृदयके समीप पहुँचाते हुए बड़े कर्कश स्वरमें वह चिल्लाया—'मैं कच्चा ही कलेऊ कर जाऊँगा ! तुझमें मांस तो है ही नहीं, इस सूखी हड्डी पर मुझको व्यर्थ ही कष्ट देना पड़ेगा, यह सोचकर तुझे अब तक छोड़ दिया है। यह पर्वत मेरा है और इसपर मैं किसीको रहने देना नहीं चाहता !'

'स्थल तो सभी जगदीशके हैं।' तपस्वी दृढ़ था। 'मैं उसी शशाङ्क-शेखरकी यहाँ आराधना कर रहा हूँ। तुम आरम्भमें निषेध करते तो मैं यहाँ न बैठता। अब तो स्थल-परिवर्तन करना शक्य नहीं। मेरे रहनेसे तुम्हें कोई कष्ट न होगा।'

'आराधनाके बच्चे।' वह दुष्ट गर्जकर बोला—'तू भागता नहीं तो मैं तुझे निगल लूँगा। तेरे जैसे तुच्छ कीटोंसे मुझे कष्ट या असुविधा क्या होनी है ? लेकिन तेरा यह ढकोसला यहाँ चल नहीं सकेगा। मैं तुझे अन्तिम अवसर देता हूँ। अपनी तूमड़ी उठा और यहाँसे चम्पत हो !'

'रोष करना व्यर्थ है।' तपस्वीका स्वर शान्त था। 'मेरे दैनिक कृत्यमें व्याघात हो रहा है। उस सर्वेशकी जो इच्छा हो, वही होवे। तुम उसकी इच्छाके विरुद्ध कर भी क्या सकते हो ? अतः मैं इस व्यर्थ विवादसे

उपराम होता हूँ।' उसने उस यमदूतके समान दैत्य तथा उससे लपलपाते भालेकी ऐसी उपेक्षा कर दी जैसे कोई डङ्कहीन वृश्चिककी कर दे। उसके नेत्र बन्द हो गये और वह आराध्यके ध्यानमें लग गया।

'मैं यह कर सकता हूँ।' दैत्यने क्रोधसे ओष्ठ चबाते हुए भालेको उठाया और भुजाओंमें पूरी शक्ति लगाकर चलानेको प्रस्तुत हुआ। भुजदण्ड हिले। आकाशमें एक विद्युत-प्रकाश चमक उठा। एक चीख गूँजी और मेदिनी रक्तसे अरुण हो उठी।

'यह तो सदाका दुष्ट एवं पापी है!' अन्तरिक्षमें उमा अपने आराध्यसे कह रही थी—'इसने जीवन भर तापस विप्रोंको कष्ट दिया है। गौ, ब्राह्मणोंका वध करना इसके लिए साधारण क्रीड़ा थी। इसे क्या दण्ड मिलेगा?'

'यह मेरा पार्षद होगा।' भगवान शङ्करका स्वर यह स्पष्ट सूचित कर रहा था कि वे उपहास नहीं कर रहे हैं। 'करुणा तो ऐसे अधमोंको अपनानेमें ही है करुणामयी! पवित्रात्मा तो स्वयं अपनी कृतिसे पूत हैं। उन्हें तो उनकी साधनाका पारिश्रमिक ही दिया जाता है। उसमें कृपा क्या?'

'दयामय!' उसी समय एक दिव्य देहधारीने आकर उन चन्द्रमौलिके श्रीचरणोंको अपने चक्षुवारिसे चर्चित कर दिया। जगदम्बाका सम्पूर्ण रोष एक क्षणमें दूर हो गया, जब उसने उनके पादपद्मोंपर अपना मस्तक रख कर कहा—'अम्बा?'

'मणिमान्।' नामकरण हो गया उसका—' तुम अब अलक्ष रूपसे इन तपस्वीकी रक्षा तथा सेवाके लिए यहीं निवास करो। इनकी साधना समाप्तिके अनन्तर कैलाश आ जाना।' प्रभुने आदेश दिया।

'कृपासिन्धु !' चीखसे तपस्वीके नेत्र खुल गये। उसने सम्मुख दैत्यका छिन्न मस्तक शव देखा। उसके नेत्र ऊपर उठ गये। कण्ठ भर जानेके कारण कुछ और नहीं बोल सका।

× × ×

'आपका न्याय भी अनोखा है !' उसी वट-वृक्षके नीचे वामभागमें आसीन उन जगज्जननीने कुछ उलाहनेके स्वरमें कहा—'वह सदाका कलुषलिप्त दैत्य तो आपका पार्षद हो गया और वह सरल हृदय विप्र जो पूरे वर्ष भरसे आपके निमित्त कठोर तप कर रहा है, दर्शनोंका अधिकारी भी नहीं समझा गया। उसके समीप तक जाकर भी आप लौट आये !'

'तुम्हारे उलाहने भी आनन्द देते हैं !' मुसकराते हुए प्रभुने कहा—'मैं तो दोनोंका हूँ। अबल ही मेरा बल पाते हैं। निरुपायोंको मैं मार्ग बतलाता हूँ और अनाश्रयोंको आश्रय देता हूँ। यदि ऐसा न हो तो अनाथोंको रक्षकके अभावमें उत्पीड़न ही प्राप्त हो !'

'यह पहेली तो टेढ़ी है !' पार्वती गम्भीर थीं। 'आपके शब्द-कोषमें कौन सबल, सम्पन्न, समर्थ है

और कौन दीन-दुर्बल, अनाश्रय, निरुपाय; यह जानना कोई साधारण बात तो है नहीं। पर्वताकार दैत्य दुर्बल हो गया और दो मुट्ठीका कङ्काल सबल, भाला लिये उद्धत निरुपाय माना गया और नेत्र मूंदकर विवश बैठा साधन-सम्पन्न!, जननीको कंपित करनेवाला दीन दिखायी पड़ा और कौपीनधारी सम्पत्तिशाली! आपकी लीला आप ही जानें!'

'आप भी जान सकती हो और जो इच्छा करे वह भी!' प्रभुने स्मित सहित कहा—'यह कोई गूढ़ रहस्य तो है नहीं। दैत्यका समस्त बल, वैभव उसके शरीर तक था। मृत होते ही उसके पास क्या रहा? किस आधार-पर वह परलोकमें खड़ा हो सकता था? पापोंके अतिरिक्त उसके पास क्या कोई पुण्य पूँजी भी उसके पास थी? शरीर त्यागके अनन्तर प्रताड़ना, कष्ट एवं विमर्दके अतिरिक्त क्या मिलनेवाला था उसे? कहीं कोई दुर्बलतर आधार भी तुम उसके लिए बतला सकती हो?'

'मुझे उससे कोई ईर्षा नहीं!' भवानी हँस पड़ीं। 'मुझे उस पर रोष तो आया था; किन्तु उसके 'अम्बा!' कहते ही दूर हो गया। मैंने उसे क्षमा कर दिया और अपने सेवकोंमें उसे देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।'

'फिर यह उलाहना क्यों?' प्रभुने हँस कर पूछा।

'उस बेचारे तापसने क्या अपराध किया?' उन

स्नेहमयीके नेत्रोंमें अपार प्रेम-पारावार उमड़पड़ा । 'आप उसकी क्यों उपेक्षा करते हैं ? क्यों वह आपकी परिभाषाके अन्तर्गत नहीं आता ?'

'तुम्हारा अपने भोले शिशु साधकोंके प्रति यह अनुराग स्वाभाविक है ; परन्तु—।' प्रभुने कहा ।

'परन्तु—परन्तु क्या प्रभो ? सचमुच वे अम्ब अत्यन्त स्नेहाकुल हो उठी थीं ।

'परन्तु वह तापस अभी अपने तपोबलपर भरोसा करता है । वह जानता है कि तपस्यासे बड़ी कोई शक्ति नहीं । उसे अपनी साधनाका आश्रय है ।' प्रभुने गम्भीरता-पूर्वक कहा—'जब तक ऐसा है, वह सबल, समर्थ एवं सम्पन्न है । उसे मेरी सहायताकी आवश्यकता नहीं ।'

'बेचारा अज्ञ !' उमाका स्वर करुणामें डूब गया । बड़ी निराशा पूर्वक उन्होंने कहा —'तब क्या वह प्रभुकी कृपा कभी प्राप्त न कर सकेगा ? उसे श्रीचरणोंके दर्शन नहीं होंगे ? यों ही तपता रहेगा वह ?'

'ऐसे कैसे हो सकता है ?' विश्वनाथ कहरहे थे— 'जिसपर तुम्हारा इतना अनुग्रह हो, जिसके लिए तुम इतनी आकुल हो, उसका लक्ष्य अप्राप्य कबतक बना रहेगा ? कब तक भ्रान्ति उसे अपने अङ्कमें रख सकेगी ?'

'तब आप उसपर अनुग्रह क्यों नहीं करते ?' अन्नपूर्णाने आग्रह किया ।

'तुम्हारे और मेरे अनुग्रह दो नहीं हैं !' आशुतोषने समझाया—'उसकी रक्षाका प्रबन्ध तो हो ही गया है ! उपयुक्त अवसर आते ही उसकी साधनापर गर्व करने वाली दुर्बलता भी नष्ट हो जायगी और मैं तो उस अवसर-पर दौड़ पड़नेके लिए अभीसे आतुर हूँ !'

× × ×

'सुरेन्द्र कहनेको ही सुरेन्द्र है ! बड़ा कलुषित हृदय है उनका !' दधीचिने आसन सम्भाला। मेरुदण्ड सीधा किया। प्राणोंको संयमित किया। 'मैं न तो स्वर्ग चाहता हूँ और न इन्द्रत्व, फिर भी यह तपस्वियोंसे सशङ्कित रहने वाले शङ्कालु जान पड़ता है कि मेरा पिण्ड नहीं छोड़ेंगे !'

ग्रीष्म ऋतुमें भी लता-तरुओंमें कोपलें आ गयी थीं। लाल-लाल किसलयोंके साथ पुष्प-गुच्छ अपनी मादक सुरभि बिखेरने लगे थे। भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे। लूके स्थानपर शीतल मन्द समीर चलने लगा था। कोयलकी कूक एवं पपीहेकी 'पी कहां' प्राणोंमें एक सिहरन जागृत करता था।

यह ऋतु-विपर्यय ग्रीष्ममें बसन्तका प्रादुर्भाव ! दधीचि जानते थे कि किसी तपस्वीको पतित करनेके लिए महेन्द्र किन हथकण्डोंसे काम लेते हैं ! बसन्त आ गया है तो पीछे-पीछे मदन तथा उसकी सेना भी आती ही होगी !

उन्होंने नेत्र दृढ़तापूर्वक बन्द कर लिये ! गुरुप्रदत्त मन्त्रका एकाग्रतापूर्वक जप करने लगे !

वीणाकी कोमल झंङ्कारसे कानन मुखरित हो उठा ! नूपुरोंकी रुनझुन तथा कङ्कण-किङ्किणीकी कूजनने उसका माधुर्य द्विगुणित कर दिया ! दूसरेसे निकटतर आता हुआ वह कल कूजन हृदयको बलात् आकर्षित कर लेता था ! तपस्वीने लाख चेष्टाकी, पर मन ध्यानमें लगा नहीं। उसने कानोंके साथ तादात्म्य कर लिया।

'तपोधन, मैं श्रीचरणोंमें अभिवादन करती हूँ ?' किसी सङ्गीत भरे कोमल कण्ठसे ये स्वर निकले। चरणोंपर कुछ कुसुमोंका स्पर्श हुआ और नासिका उन नन्दन-काननके पुष्पोंकी सुरभिसे सुधा-सिंचित हो गयी।

समाधिमें तो थे नहीं। शरीरका भान होते हुए, जबकि ध्यान भी नहीं किया जा रहा है, नेत्र बन्द किये रहना किसीके अभिवादन करनेपर भी पाखण्ड है। पता नहीं यह बात तपस्वीकी विशुद्ध बुद्धिने कही या लोलुप मनने। उसने नेत्रोंकी पलकें खोल दीं और जब एकबार खोल दीं तो पुनः बन्द कर लेना उनकी शक्तिके बाहर हो गया।

किञ्चित हास्य एवम् कटाक्षके साथ सुन्दर मूर्ति अपूर्व अङ्ग-भङ्गी प्रकट करती पैरोंके समीपसे उठी और थिरकने लगी। स्वर्गीय सौंदर्यकी प्राणभूता उस तिलोत्तमाको एक बार देखकर पुनः नेत्रोंको बन्द कर लेना किसके बसमें

है ? सूक्ष्मतम वस्त्र वायुवेगसे इतस्ततः होने लगा। कबरी खुल गयी। उन्मुक्त कुन्तल पीठपर पैरोंतक लहराने लगे। उनमें गूँथे कुसुम एक-एक कर पृथ्वीपर गिरने लगे। एक हाथसे कुन्तलोंको सम्हालती वह अप्सरा नृत्य कर रही थी। अन्तरिक्षसे सुमधुर वाद्य गुन्जार उत्पन्न कर रहे थे।

पुष्पित कदम्बके ऊपर मदनने अपने धनुषपर मल्लिका सुमनोंवाला महाशायक चढ़ाया। दधीचिपर कटाक्षोंकी अजस्र वृष्टि हो रही थी। उनका मन अपने वशमें नहीं था। अब उठे-अब उठे ! वे अप्सराकी ओर अवश्य दौड़ पड़ेंगे। मणिमान स्वयं विमुग्ध थे। वे क्या रक्षा करते ?

'विश्वनाथ !' अपनी समस्त शक्ति लगाकर उन्होंने पुकारा ! साधनोंका बल कबका हवा हो चुका था ! वे इस समय डूब रहे थे ! सहसा जादू हो गया ! वही लू, वही उजाड़ कानन, वही सुनसान ! मदन अपने साथियोंके साथ सिरपर पैर रखकर भागा।

हिम-धवल वृषभ सम्मुख खड़ा था। उमाके साथ चन्द्रमौलि अभय हाथ उसके मस्तकपर फैलाये दृष्टि पड़े। तपस्वी चरणोंपर दण्डवत गिरते हुए बोला—'कृपा करो, कृपासिंधु !'

गुरुदेव

वन्दौं गुरुपद कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि।
महा मोह-तमपुंज, जासु वचन रविकर निकर ॥

द्वापर अपनी आयुका उपभोग कर चुका था। उसके जराजीर्ण कलेवरमें अन्तिम ज्योतिकी भाँति परम पुरुष अभी पधारे नहीं थे। कलि भले स्वत: न पहुँच सका हो, उसकी कलुषित कायाका आभास मिलना प्रारम्भ हो गया था। स्वार्थने त्यागको दबा लिया था। अहंके मिथ्याभिमानने मानवको मदान्ध बनाना प्रारम्भ कर दिया था।

कोई भी समर्थ शक्तिशाली चक्रवर्ती नहीं रह गया था। छोटे-छोटे राज्य थे और आन्तरिक कलहसे उनके भी टुकड़े होते जा रहे थे। जो बलिष्ठ एवं प्रधान थे, उनमें असुरोंका ही प्राबल्य था। वे श्रुति शास्त्र एवं सुरोंके विरोधी थे। वैसे तो उनका भी एक निश्चित सदाचार था और उसका वे कठोरतापूर्वक पालन करते थे। भौम, बाण, जरासन्ध, द्विविद प्रभृति उनमें प्रमुख थे।

समाजमें कदाचार, चोर एवं दस्युओंका प्राबल्य राजशक्तिकी दुर्बलता तथा राजदण्डकी शिथिलतासे होता है। उस समयके छोटे राज्यों तथा उनके परस्परके द्वेष

उन्मुक्त विचरण करती थीं। शतशः शिष्य सामगानसे प्रातः-सायं दिशाओंका कलुष दूर किया करते थे।

साथ ही उन काननोंमें, जहाँ वे अधिक सघन तथा दुर्गम हो गये थे, जहाँ पर्वतोंके प्राकृतिक प्राचीरोंकी सहायता उपलब्ध थी, दस्युओंने अपने दुर्ग बना लिये थे। वे अपने दल रखते थे। उनके गुप्तचर होते थे और कभी-कभी तो अचानक आक्रमण करके किसी राज्यपर अधिकार करके नरेश भी बन जाते थे। इन दस्युओंके कई पराजित राज्य-त्यक्त राजा भी थे।

जैसे उस समयके ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् व्यास थे और बदरीवनका उनका आश्रम प्रधान आश्रम माना जाता था, वैसे ही दस्युओंमें उग्रश्रवाका नाम दूसरे दस्युओंके हृदयको भी दहला देता था। उन्होंने भी अपना दुर्ग अभेद्य हिमालयकी क्रोड़ीमें बनाया था। बदरीवनके समानान्तर, अगम्य पर्वत-श्रेणियोंके मध्यमें पुष्पोंका स्वर्गलोकपाल उनका केन्द्र था।

प्रकृतिने सम्पूर्ण सौन्दर्य वहीं एकत्र कर दिया था। धरातल तथा चारों ओरकी पर्वत-श्रेणियाँ रंग-बिरंगे छोटे-

बड़े पुष्पोंसे लदी थीं। यहाँ के पुष्प एक महीने तक ज्यों-के-त्यों रहते हैं। वे नीचे कहीं भी अलभ्य हैं। विश्वमें कहीं भी इतना बड़ा पुष्पोंका संग्रहालय है नहीं। सुस्वादु पौष्टिक मेवोंके वृक्ष फल भारसे लदे हुए झूमते रहते हैं।

उग्रश्रवा कोई महर्षि नहीं जो प्रकृतिके सौन्दर्यपर मुग्ध हो जायँ। मेवोंपर पेट पालना ब्राह्मणोंका काम है। उन्हें तो 'मारो काटो' की उग्रध्वनि प्रिय है। इसी से उनका नाम उग्रश्रवा पड़ गया है। वे अपने इस गिरि दुर्गको उससे भी अधिक रत्नोंसे भर देनेपर तुले हैं, जितने कि यहाँ पुष्प हैं। वे यहाँ सुवर्णका एक और पर्वत खड़ा कर देंगे।

चाहते तो उग्रश्रवा भी अब तक किसी-न-किसी राज्यके अधिपति हो गये होते। ऐसा कई दस्युओंने किया, लेकिन शासनके झगड़ेमें पड़ना उन्हें पसन्द नहीं। दूसरे वे जातिके सूत हैं। वे जानते हैं कि प्रजा उन्हें सहज ही शासक नहीं स्वीकार करेगी। ब्राह्मण भरपूर विरोध करेंगे। यह भी सम्भव है कि क्षत्रिय नरेश सम्मिलित रूपसे उनका विरोध करें। अतएव वे अवसर देखकर सदल किसी नगरपर चढ़ दौड़ते हैं और उसे लूटपाट कर लौट आते हैं।

कश्मीरसे पाटलिपुत्र तक उग्रश्रवाके नामसे काँपता है। वही एक ऐसा दस्यु है जो महीनों चलकर छापा मारता है। उसके और उसके लोगोंका पता तक नहीं लगता। सूचित की हुई निश्चित तिथिपर उसके सैनिक

प्रकट होते हैं, जैसे प्रेत। फिर तो नृशंस हत्याकाण्डसे मेदिनी काँप उठती है।

× × ×

'आज गुरुदेव उदासीन दृष्टि पड़ते हैं!' अपनी सुरसरि सलिलसे आर्द्र कपिश जटाओं द्वारा भगवान् बादरायणके पाद पंकजोंको स्पर्श करनेके अनन्तर उनके प्रिय शिष्य पैलने कहा– 'यदि मैं अनधिकारी न समझा जाऊं तो कारण जाननेकी अन्तरमें उत्कंठा जागृत हो रही है!' उनकी अञ्जलि बँधी थी और शब्द अत्यन्त नम्र।

'सुन सकते हो वत्स!' महर्षिने सूर्योपस्थान कर लिया था। प्रातःकालीन हवन तथा सामगान समाप्त करके वे आज एकाकी इस सरस्वती तटके नीम तरुकी मूलमें बिना आसनके शिलापर आ बैठे थे। उनकी दृष्टि क्षितिजसे उतर कर उस ऋषिकुमारपर पड़ी।

'प्राणियोंमें कलुषित भावनाका संचार प्रारम्भ हो गया है। कलियुगकी छाया आ चुकी है!' अहर्निशि जन कल्याणका चिन्तन करने वाले उन करुणामयके नेत्र भर आये थे। अल्पायु होते जा रहे हैं और उनकी मेधा शक्तिका नितान्त ह्रास प्रारम्भ हो गया है!'

'जो अनिवार्य है, उसके लिए प्रभुका शोक!' संकोचके कारण शिष्यकी वाणी रुद्ध हो गयी। उसने दूसरे ढंगसे कहा—'क्या प्रभु उस नैसर्गिक नियमको

परिवर्तित करनेका कोई मार्ग ढूँढ़ रहे हैं ?' अपने गुरुकी अपार शक्तिमें शिष्यका सम्पूर्ण विश्वास था और वह इस विचारसे पुलकित हो गया था ।

'जगन्नियन्ताकी इच्छा सर्वोपरि है । उसे कोई बदल नहीं सकता । ऐसा करनेमें कोई लाभ नहीं !' महर्षिका स्वर खिन्न था । 'मैं सोच रहा हूँ केवल इन आने वाले अल्पायु, अल्प मेधस, कलुषहृदय प्राणियोंके उद्धारका उपाय !'

'क्या वह आज भी अनुपलब्ध है ?' शिष्यका स्वर कहता था कि वह आश्चर्यको संयत नहीं कर पा रहा है । 'पंचम वेद महाभारत प्रस्तुत हो गया है और प्रभुने पुराणोंकी भी रचना कर ली है ! इनमें न तो अधिकारकी बाधा है और न मेधाकी तीव्रताकी आवश्यकता । सरल, सुलभ साधनों द्वारा सभीके कल्याणका पथ प्रशस्त हो गया है, ऐसा मैंने आचार्य चरणोंसे ही तो सुना है !'

'ग्रन्थ-निर्माण ही तो उनका उद्देश्य पूर्ण नहीं कर दिया करता !' महर्षिका खेद ज्यों-का-त्यों था । श्रुतियोंके इस सरल-सुलभ तथ्योंको विश्वमें प्रसारित करनेकी आवश्यकता है ! इसके बिना उनका निर्माण अर्थहीन है !'

'हम सभी आचार्यके अन्तेवासी तो उनके अध्ययनको उत्सुक हैं !' पैलका स्वर भी निराशापूर्ण था । वह समझ रहा था कि हम लोग इन महिमामय ग्रन्थोंके पढ़नेके योग्य आचार्यकी दृष्टिमें नहीं हैं । 'क्या हममें कोई भी उनको उपलब्ध करनेका अधिकारी नहीं ?'

'अधिकारी तो सभी हैं !' आचार्यके वाक्यने संतोष दिया। 'लेकिन प्रश्न प्रचारका है। ये ग्रन्थ श्रुतियाँ नहीं हैं जो एक दूसरे तक आजकी पाठ्य-प्रणालीसे प्रचारित हो जायँगी। इनका प्रचार आचाण्डाल करना है और तुम जानते हो कि द्विजेतर वर्ण ऋषिकुलमें अध्ययनार्थ नहीं आते !'

'तब ?' सचमुच समस्या गम्भीर थी और शिष्यने इसपर कभी विचार नहीं किया था। 'हम राज-सभाओंमें उनका प्रवचन करेंगे !' झटपट उसे एक युक्ति सूझी।

'तब भी उससे अन्त्यज तथा नारिवर्ग वंचित रहेगा !' सर्वज्ञ महर्षिने योजनाकी त्रुटि पकड़ी। 'ऐसा मान भी लें कि कुछ साहसी आत्मत्यागी पंचम वर्णकी झोपड़ियोंमें भी निन्दा-स्तुतिकी चिन्ता किये बिना पहुँच जायँगे, तो क्या उद्देश्य सफल होगा ? ब्राह्मणोंके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती अश्रद्धाको तुम देख नहीं रहे हो ? किसी विप्रकी वाणीसे अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न होगा, इसमें संदेह ही है !'

'तब तो कोई मार्ग नहीं !' ऋषिकुमार सम्पूर्ण निराश हो गया।

'मार्ग तो प्रभुके हाथमें है। वे अमार्गमें भी मार्ग निकाल देते हैं !' महर्षि कृष्ण द्वैपायनने क्षितिजकी ओर देखते हुए कहा। 'कोई अन्त्यज या प्रतिलोमज प्रतिभाशाली, उत्साही एवं शारीरिक, मानसिक, शक्ति-सम्पन्न श्रद्धालु प्राप्त हो तो उससे द्विजाति तो वस्तुकी उत्तमत्ताके कारण इसे ग्रहण करेंगे। क्योंकि उनकी उदार

बुद्धि अभी मृत नहीं हुई है और द्विजेतर वर्णसाम्यके कारण उसकी वाणीका आदर करेंगे !'

'हम सब वंचित ही रहेंगे ?' पैलके दृग भर आये।

'नहीं तो !' महर्षिने कहा– 'अपने उस सहाध्यायीके साथ तुम लोग भी इन्हें उपलब्ध कर सकोगे; किन्तु प्रचार तो उसीके द्वारा सम्भव है।'

× × ×

'उफ, इतना नृशंस नर-संहार !' राजपथपर लाशें बिखरी पड़ी थीं। रक्तसे पथ अरुण हो गया था। भवनोंके तोरण द्वार टूटे पड़े थे और कहीं-कहीं अग्निकी लपटें उठ रही थीं। श्वान, काक तथा चीलोंकी चख-चख चल रही थी। गृद्ध मँडरा रहे थे तथा भवनोंसे अबलाओं एवं बालकोंका करुण-क्रन्दन हृदयको विदीर्ण किये देता था। अकस्मात इस दुर्दिनमें भगवान् वेदव्यास विदर्भमें आ पहुँचे थे।

'निश्चय ही दस्यु अभी नगरमें ही हैं !' आचार्यके पीछे चलने वालोंमें-से सबसे आगेके ब्रह्मचारी मीमांसाकार जैमिनिने कहा। बहुत बचाकर वे चरण निक्षेपकर रहे थे कि कहीं रक्तादिके स्पर्शसे गात्र अपवित्र न हो जावे।

'हम लोगोंको लौट चलना चाहिये !' एक ब्रह्मचारीने जो सबसे पीछे तथा आयुमें सबसे कम था कहा—'इस समय नगरमें घोर अशान्ति है ! इससे हृदयमें खेद ही

होता है। सभी नागरिक आकुल एवं त्रस्त हैं। ऐसे समय यहाँ रहनेमें कोई लाभ नहीं दिखायी पड़ता।'

'इन क्रन्दन करते हुए दीनोंको छोड़कर तुम शान्तिके लिए आश्रम जाना चाहते हो?' गुरुके स्वरमें स्नेहपूर्ण रोष था। 'दीनोंकी उपेक्षा करने वाला दीनबन्धुकी उपेक्षा करता है, यह तुम्हें स्मरण रखना चाहिये। ब्राह्मणके लिए सबसे बड़ी तपस्या है पीड़ितोंका परित्राण! हम उससे विमुख नहीं हो सकते।'

हम लोगोंको प्रज्वलित अनलको शीतल करनेमें लग जाना चाहिये।' जैमिनीने उत्साहपूर्वक कहा—'और यदि सम्भव हो तो आहतोंका उपचार भी करना चाहिये।'

'इन कामोंको नागरिकोंने प्रारम्भ कर दिया है।' बात सच्ची थी। 'हमें उससे भी महान काम करना है। ध्वंसको निवारित करना ही इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है। हम दस्युराज तक शीघ्रतापूर्वक पहुँचना चाहते हैं।' आचार्यकी गति बढ़ गयी थी और अनुगामियोंको दौड़कर अनुसरण करनेके लिए बाध्य होना पड़ रहा था।

'मैं उसे यहींसे शाप देकर भस्म कर दूँगा।' इस प्रकार आचार्य-पादकी आकुलता तपस्वी कुमार अरुणके लिए असह्य हो गयी थी और उन्होंने अपने कमंडलुमें-से अपनी दाहिनी अञ्जलिमें जल तथा वाम-करमें कुश निर्मित ब्रह्माण्ड सम्हाला। पलाश दण्ड कक्षमें दबा लिया गया था।

'नहीं वत्स !' गुरुदेव रुक गये। स्नेहपूर्वक उन्होंने उस तेजस्वी किशोरके मस्तकपर हाथ फेरा। 'क्रूरताका प्रतिकार जब कभी क्रूरतासे किया जाता है, वह उसे एक क्षणिक विराम देकर द्विगुणित भड़काने वाला सिद्ध होता है। अनलको तैजस घृतसे नहीं, शीतल जलसे शान्त करना चाहिये।'

'यदि वह दुष्ट आपकी आज्ञा न माने?' आवेश जैमिनीमें भी आ गया था। उनका कर्म-सिद्धान्त जैसे-को-तैसा देनेका समर्थक है।

'वह ऐसा तो करेगा ही। अपमान एवं आघात भी कर सकता है।' महर्षिने कहा—'वह तो भ्रान्त है। ज्ञानहीन है। क्रोधने उसे अन्धा बना दिया है और लोभने उन्मत्त। वह क्या तुम्हारे कोपका पात्र है? उसके अज्ञानवश किये आचरण क्या ध्यान देने योग्य है? दयनीय है वह !'

शिष्योंकी समझमें नहीं आता था कि उनके कृपासिन्धु गुरुदेव अन्ततः करना क्या चाहते हैं। इतना ही उन्होंने समझा कि उन्हें प्रत्येक स्थितिमें शान्त रहनेका कठोर आदेश मिल गया है।

× × ×

'दस्युराज उग्रश्रवा महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करता है।' उस समय ऋषियोंका प्रताप मार्तण्ड मध्य क्षितिज-पर था और दस्युको यह ज्ञात था कि ऋषिकी एक वाणी उसको सदल विनाशके गर्तमें सहज ही फेंक देनेमें समर्थ है।

'दस्युराज तुम्हें लज्जा नहीं आती ! इस उपाधिको अपने ही मुखसे सम्बोधित करनेमें ?' महर्षिके स्वरमें तिरस्कार था—वैसा तिरस्कार जैसा बच्चेको झिड़कते समय माताके स्वरमें हुआ करता है।

'क्यों देव, मैं इसमें क्यों लज्जित होऊँ ?' दस्युका कण्ठ दृढ़ था। 'मेरे पास छत्र-चँवर नहीं है, अन्यथा मेरे इस विजयाभियान तथा राजाओंकी विजय-मात्रामें क्या अन्तर है ? वे भी तो धन तथा यशके लिए ही लूट तथा हिंसा करते हैं। मैं नरपति शब्दकी बिडम्बना नहीं करता, अन्यथा महाराज भी कहलाना कठिन नहीं है !'

'नित्य किसी द्वारा आचरित होनेसे स्तुत्य नहीं हो जायगा !' महर्षिने घृणापूर्वक कहा। 'राजा यदि दुष्टदमनके अतिरिक्त शस्त्र उठाता है तो वह भी दस्यु है, यह तो ठीक, किन्तु क्या इससे वह स्तुत्य हो गया ?'

'मैं प्रतिभाके अधीश्वरसे तर्क करके विजयकी आशा करनेका दुस्साहस नहीं कर सकता !' दस्युने मस्तक झुकाया। 'मैं केवल उनकी किसी सेवासे अपनेको पवित्र करनेकी इच्छा करता हूँ। क्या प्रभु इस अधमको इस योग्य समझते हैं।'

'मैं स्वयं ही तुमसे याचना करने आया हूँ !' महर्षिने उस दस्युको चकित कर दिया। 'आशा है तुम अपनी प्रसिद्धि एवं साहसका सम्मान रखोगे और एक वृद्ध ब्राह्मणको निराश नहीं करोगे !' उन्होंने भेदक दृष्टिसे उसकी ओर देखा।

'मेरे समीप किसी भी चक्रवर्तीके कोषसे अधिक रत्न एवं स्वर्ण है तथा सभी राज्योंके कोष-गोधन आदि एक संकेत मात्रसे प्राप्य हैं।' बड़े उल्लाससे दस्युने कहा– 'यदि प्रभुने मुझे इतना बड़ा सौभाग्यका पात्र बनाया है तो यह सेवक भी मस्तक तक देकर उसकी रक्षा करनेका प्रयत्न करेगा।'

'मेरा काम वल्कल एवं फलोंसे चल जाता है और गायें सरस्वती तीरपर कम नहीं हैं।' उन महामेधाका पार पाना दस्युके लिए कहाँ शक्य था। वह उनकी माँग सुननेको उत्सुक था। 'मेरे देवताको बलि भी नहीं दी जाती। मैं तो एक साधारण भिक्षा चाहता हूँ। तुम उसे दोगे सूत ?'

'मैं आज्ञाकी ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ।' हाथ जोड़कर दस्युने मस्तक झुका रखा था। लूटके स्वर्ण – रत्नादिकी ढेरी एक ओर लगी थी। उसके दलके सभी अनुयायी एकत्र हो गये थे। उनके वस्त्र रक्तात्त हो चुके थे। अरुण खड्ग म्यानमें चले गये थे और भाले आदि उन लोगोंने पीछे डाल दिये थे। वे जानते थे कि महर्षिके समीप उन-पर कोई आघात करनेका साहस न करेगा और यदि कोई करे ही तो वे दुर्बल नहीं हैं। दोष उनका नहीं रह जायगा तब।

'यह सम्पत्ति उनके स्वामियोंके लिए छोड़ दो।' यहाँ तक तो दस्युने कोई आपत्ति नहीं की, किन्तु महर्षि कहते ही चले गये– 'और इन शस्त्रोंको फेंक दो, इस नृशंस कार्यको सदाके लिए परित्याग करनेकी प्रतिज्ञा करो।'

'यदि मैं यह न कर सकूँ ?' डाकूका स्वर भर गया था। वह अपनेको सचमुच विवश पा रहा था। 'क्या कोई भी दूसरी आज्ञा देकर प्रभु अपने वचनोंसे छुटकारा नहीं दे सकेंगे ?' वह बहुत कातर हो रहा था। कह नहीं सकते कि शापके भयसे भीत भी था या नहीं।

'केवल एक बात और !' महर्षिके वाक्यने उसे आश्वासन दिया। 'केवल एक ही बात परिवर्तनमें और वह यह कि ऐसी दशामें अन्य किसीपर शस्त्र प्रयोग करनेके पूर्व तुम मेरा वध कर दो।' भगवान् व्यासने अपना रजत श्मश्रु-केश मण्डित मस्तक झुका दिया।

'छिः !' दस्यु जैसे पागल हो गया। उसने अपनी कटिका शस्त्र नोंच फेंका, कवच उतार दिया और उन विश्ववंद्यके श्रीचरणोंमें रोता हुआ गिर पड़ा।

×   ×   ×

'तुम धातु और पाषाणके पीछे इतने व्यस्त क्यों हो गये हो ?' सरस्वतीके पावन तटपर भगवान् व्यास एक शिलापर आसीन थे और दस्युपति उग्रश्रवा दोनों हाथ बांधे उस शिलाके नीचे घुटनोंके बल बैठा हुआ था।

'आनन्द तथा सुखके लिए !' उसकी वाणी उसके नेत्रोंके समान ही आर्द्र थी। वस्तुतः उसका हृदय उसे अपने क्रूर मार्गपर लौट जानेके लिए बार-बार प्रेरित कर रहा था और निष्कपट भावसे उसने श्री गुरु-चरणोंमें अपनी आंतरिक स्थिति निवेदन कर दी थी।

'तुम विश्वास करते हो कि उनमें आनन्द और सुख है ?' उन योगिराजके नेत्र उसके नेत्रोंपर स्थिर हो गये। 'उन्हें इस हिरनके सम्मुख डाल दो और देखो कि यह उनसे कितना सुख या आनन्द प्राप्त करता है।' पास ही एक मृग-शावक हरित तृणोंको धीरे-धीरे कुतर रहा था।

'यह उनके मूल्यको नहीं जान सकेगा।' दस्युने वैसे ही साधारण ढङ्गपर कह दिया।

'यह मूल्य ज्ञान कल्पना ही तो है!' महर्षि गम्भीर होकर बोले—'तुमने उसे बहुमूल्य मान लिया है, इसीसे उसे पाकर प्रसन्न होते हो। यह प्रसन्नता उसमें-से नहीं, तुम्हारे अन्तरमें-से ही तुम्हें उपलब्ध होती है।'

'वह उसका निमित्त कारण तो है ही।' अब भी दस्युका हृदय परिवर्तित नहीं हुआ था। 'अन्ततः प्रसन्नता किसी कार्यमें तो होती नहीं। वह कहीं-न-कहींसे निमित्त रूपमें ही तो प्राप्त होती है।'

'वह कार्यमें भी होती है।' महर्षिने पुचकारा और उनका संकेत पाते ही वह मृग उनके पैरोंके पास आकर खड़ा हो गया। उनका कोमल हाथ उसकी पीठपर घूम रहा था और वह पशु मुख उठाकर मुग्ध भावसे उनके नेत्रोंकी ओर देख रहा था। 'तुम कह सकते हो कि विश्वमें कोई ऐसा भी प्राणी है जिसे यह स्नेह-आनन्द नहीं देगा? दूसरोंको इस प्रकार स्नेह-दानमें अन्तरको क्या कम आनन्द उपलब्ध होता है?'

'गुरुदेव !' जैसे कोई अलौकिक घटना हो गयी हो। बड़े ही अद्‌भुत स्वरमें दस्युने पुकारा। दो क्षणके लिए उसकी वाणी मूक हो गयी। 'आपकी वाणीने मेरे हृदयके घोर अन्धकारको दूरकर दिया है। आप इस मानव रूपमें साक्षात् श्रीहरि हैं।' वह वहाँ अपने ही नेत्र सलिलसे भीगी पृथ्वीपर दण्डवत् लेट गया। बड़े कष्टसे उसने उपर्युक्त शब्द कहे।

भगवान व्यास मुसकरा रहे थे। उस दस्युपतिको क्या पता था कि वह अनजानमें जो माहात्म्य वाक्य कह गया था, वह सत्य ही था। 'मुझ पापिष्ठका उद्धार कैसे होगा नाथ ?' वह बार-बार विक्षिप्तकी भाँति तड़प रहा था।

अब तक तुमने दूसरोंकी स्थूल सम्पत्ति तथा जीवनका अपहरण किया है।' व्यासदेव कह रहे थे—'अब इस योग्य बनो कि तुम उन्हें अन्तरकी दिव्य सम्पत्ति एवं अमर जीवन वितरित कर सको। दूसरोंको शान्ति देकर तुम शान्ति प्राप्त करोगे और साक्षात् शेषावतार भगवान बलराम अपने हाथसे मारकर तुम्हारा उद्धार कर देंगे।' उसे आश्वासन मिला।

दूसरे दिनसे वह प्रतिलोमज भगवान व्यासका प्रधान पुराण पाठी हो गया। उसी उग्रश्रवाका पुराण-प्रवचन करते समय नैमिषारण्यमें वध करके भगवान बलराम भी पछताये तथा उन्हें भी पुराण-वक्ता बना दिया।

—●—

सुरुचि-दाता

बन्दउँ गुरुपद-पदुम-परागा।
सुरुचि-सुवास सरस अनुरागा॥

'श्री महाराजजी पधारे हैं रामबागमें। दर्शन करने हों तो जल्दी आओ!' भागते हुए ताँगेपरसे पुकारकर रघुनन्दनने कहा।

'कौन महाराजजी?' कुछ समझमें आया नहीं। रामसिंह एक भीड़में खड़े थे और अभी नहीं जान सके थे कि क्यों वहाँ जनता केन्द्रित हुई है। वे अभी आये थे और भीतर घुसकर कारण जाननेको उत्सुक थे।

'अनूपशहरवाले महाराज गिरिधर शर्माजी!' दूर ताँगेपर-से ध्वनि आयी और ताँगा दृष्टिसे दूर होता गया। वह अस्पष्ट होता-होता एक विन्दु बनकर पथमें अदृश्य हो गया।

भीड़का कारण जाननेकी इच्छा अदृश्य हो गयी। पैर मुड़ पड़े। एक सुन्दर-सा मोगरेका गजरा लिया और चार-छः गुलाबके पुष्प। एक रेक्सेमें बैठकर रामबागकी ओर चल पड़े।

वे योगिराज अब बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। उनके शरीरपर कौशेयाम्बर शोभित हो रहा था। मूल्यवान

मखमली गद्देदार कुर्सीपर कमरेसे बाहर बाटिकामें लॉन-पर बैठे थे। नगरके प्रसिद्ध प्रतिष्ठित लोगोंका समुदाय दर्शनार्थ उमड़ पड़ा था। एक छोटा मेला लग गया था। कुछ लोग सामने खाटपर बैठे थे और कुछ बैठे लोगोंके पीछे या बगलमें पंक्ति बनाये खड़े थे। सबके सब शान्त थे। योगिराज कुछ कह रहे थे और बड़ी श्रद्धासे लोग उस उपदेशामृतका पान कर रहे थे।

रेक्सा उपवनके द्वारपर ही छोड़ दिया गया था। इस भीड़में-से महाराज तक पहुँचना सरल नहीं था। अन्ततः रामसिंहने मार्ग निकाल लिया। वे एक दूसरे मार्गसे पीछेकी ओर पहुँच गये। महाराजको दाहिने करके बगलसे उन्होंने माला उनके कण्ठमें डाल दी और पुष्पोंके साथ मस्तक भी चरणोंपर रख दिया।

चरण-बन्दन करके मस्तक उठाते ही योगिराजने उनकी ओर देखा! सहसा वे उठकर खड़े हो गये। कुर्सीका मुख उन्होंने पीछेकी ओर मोड़ा और इस प्रकार सम्पूर्ण भीड़को पृष्ठ भागमें करके बैठ गये। अब उनके सम्मुख अकेले रामसिंह थे।

'छोकरे!' वे रामसिंहको इसी नामसे सम्बोधित करते थे—'तू अच्छा तो है? क्या करता है?'

संक्षिप्ततः रामसिंहने बतला दिया कि अब वे गृहस्थ हो गये हैं और उन्हें नौकरी प्राप्त हो गयी है। साथ ही उन्होंने अपनी अस्वस्थ मनोदशाका वर्णन भी किया।

'अच्छा, तू अब बहिर्मुख हो गया है!' वे मुसकराये। 'मुझे भूल गया था न? देख, मैं इस राजस भोगोंमें अधिक दिन उलझा नहीं रह सकता। यहाँ आ जाया कर।'

गुरु और शिष्य इस प्रकार डेढ़-दो घण्टे बातें करते रहे। आश्चर्य मुग्ध भीड़ चुपचाप बैठी रही। कुछ लोग उठकर चले भी गये। उसी दिनसे रामसिंह नित्य वहाँ जाने लगे। सहसा एक दिन उन्हें उपवनके सेवकने बतलाया कि प्रातःसे महाराजका पता नहीं है। वे सब वस्त्रादि छोड़कर रात्रिमें ही कहीं चले गये। अन्वेषण पर्याप्त दिनोंतक चला, किन्तु रमते-राम फकीर कहीं ढूँढ़े मिलते हैं?

भाई साहब पर्याप्त वेतन पाते थे। मैट्रिककी परीक्षा समाप्त हो चुकी थी। गर्मीकी छुट्टियोंमें, इधर घूमने और आनन्द मनानेकी स्वतन्त्रता थी। बड़े भाई बहुत मानते थे और अपने साथ ही रखते थे। इससे पढ़ाई भी अच्छी चलती थी। सब प्रकारकी सुविधा थी।

भगवती भागीरथीके तटपर एक बगीचा था। उसमें एक सुन्दर कुटिया बनी थी और उसीमें एक गृहस्थ महात्मा रहते थे। उन्होंने माता-पिताके आग्रहपर विवाह तो कर लिया था, पर पत्नी उनकी शिष्याकी भाँति रहा करती थी।

इस युगमें वे पुराने त्रेताके ऋषियोंके प्रतीक थे। कोपीन एवं कौषेय उत्तरीय, खड़ाऊँ और कमण्डलु,

मृगचर्म तथा दर्भासन, सब प्राचीन युग-जैसे थे। वैसे ही उनके हवन कुंडकी अग्नि सदा प्रज्वलित रहा करती थी। प्रातः पत्नीके साथ वेद मन्त्रोंसे हवन करते। त्रिकाल स्नान-संध्या करते और सदा वेदिका-पर मृगचर्म डाल कर ही शयन करते।

अवस्था होगी तीस-पैंतीस की। मस्तकपर जटाजूट एवं मुखपर श्मश्रु-जालने आकृतिको भव्य बना दिया था। भस्म लिप्त उनके शरीरसे एक प्रकारका तेज प्रत्यक्ष हुआ करता था। वहाँ पहुँचते ही मन स्वभावतः शान्त हो जाया करता था।

आश्रममें दो गायें रहती थीं और उनके दूधसे ही हवनका हविष्य एवं दुग्धाहारी दम्पत्तिकी जीवन यात्रा भी चलती थी। यों उनमें लोगोंकी बड़ी श्रद्धा थी, किन्तु किसीका कोई दान वे लेते नहीं थे।

वे योगी थे। प्रातः हवनके पश्चात् उनकी कोठरी बन्द हो जाती और फिर मध्याह्न सन्ध्याके समय खुलती। मध्याह्नोत्तर वे आगत लोगोंसे मिलते तथा दो छात्रोंको कुछ पढ़ाते भी थे। रात्रिमें तो आठ नौ बजते-बजते उपवनका द्वार बन्द कर दिया जाता था। वे अपनी शयन वेदिका अर्धरात्रिमें छोड़कर उठ बैठते और ब्राह्ममूहूर्तमें ही आसन त्याग करते।

रामसिंहको वे बहुत मानते थे और वह युवक भी प्रायः नित्य दोपहरको भोजन करके उनके समीप पहुँच जाता था। उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जो भी छोटी-मोटी

सेवा वह प्राप्तकर पाता, बड़ा प्रसन्न होता उससे। वहाँ एक आत्मीयकी भाँति हो गया था वह। सन्ध्याको जब उपवनका द्वार बन्द होनेको होता, तभी वह वहाँसे हटता। बड़े भाई स्वतः धार्मिक प्रवृत्तिके थे। यों उन्हें आने-जानेका कहीं बहुत कम अवसर मिलता था; पर अपने छोटे भाई द्वारा साधु-सेवा उन्हें प्रसन्न करती थी।

'छोकरे!' एक दिन अचानक ही उन महत्प्राणने कृपा की—'तू कुछ करता-धरता भी है या नहीं?'

'जो आज्ञा दें, किया करूँ!' रामसिंहका उत्तर बहुत ही सीधा तथा संक्षिप्त था।

'अच्छा!' कुछ देर सोचकर उन्होंने कहा—'पञ्चाङ्ग तो ले आ!' पञ्चाङ्ग देखकर उन्होंने तिथि एवं मुहुर्त निश्चित कर दिया और कुछ सामग्री बता दी।

निश्चित तिथिपर हवन हुआ, पूजन हुआ और रामसिंहको पश्चिमोत्तान आसनकी दीक्षा मिली। उस आसनके देवता, निवास, मन्त्र, ध्यान प्रभृति सम्पूर्ण अङ्ग उसे निर्देश किये गये।

परिस्थिति एक-सी तो रहती नहीं। बड़े भाईको नौकरी छोड़कर घर आना पड़ा। रामसिंह भी उनके साथ काशी पहुँचे। यहाँसे दो-तीन वर्ष पश्चात् जब वे अपने गुरुदेवके दर्शनार्थ अनूपशहर पहुँचे तो वहाँ उपवन सूना पड़ा था। पता लगा कि पिछले वर्ष उनकी पत्नीका देहान्त हो गया। अंत्येष्टि समाप्त करके वे कहीं चले गये।

निराश होकर लौट आना पड़ा। धीरे-धीरे कालने स्मृति-पर यवनिका डाल दिया।

'भैया, यह अनुराग तुमने कहाँसे प्राप्त किया?' मैं जानता था कि मेरे प्रश्नका उत्तर मुझे प्राप्त नहीं होगा। ऐसा प्रश्न सङ्कोचमें डालनेके अतिरिक्त और कुछ करता नहीं। इतना जानकर भी मैंने पूछा; क्योंकि कई दिनोंसे यह प्रश्न मेरे मनमें चक्कर काट रहा था। मैं इस सम्बन्धमें बहुत सोच चुका था।

भगवान् या भगवान्के भक्तोंके चरितकी चर्चा आते ही नेत्र भर आते हैं। रोम-रोम खड़ा हो उठता है। सारा शरीर काँप उठता है विचित्र ढङ्गसे। ये बातें प्रत्येक दर्शकको आकर्षित करती हैं। रामसिंहका वह परिवर्तन मुझे पर्याप्त आश्चर्यमें डाल रहा था। पिछले वर्ष तो वे ऐसे नहीं थे। इस एक वर्षमें ही उन्हें क्या हो गया?

'मुझमें प्रेम है कहाँ?' उन्होंने बड़े सरल ढङ्गसे कहा। उनके कहनेका ढङ्ग ही बतला रहा था कि वे बहुत अधिक संकुचित हो रहे हैं और इस प्रकारकी चर्चासे भागना चाहते हैं। मैंने भी उन्हें तङ्ग किये बिना पता लगानेका निश्चय किया।

दूसरे दिनकी बात है—वे अपने पूजाके कमरेमें आसन लगाये बैठे थे। दबे पैर पीछेसे जाकर मैंने द्वारके समीपसे ही झुककर देखा। एक चौकीपर पीला वस्त्र बिछाया गया था। उसपर कुछ था, जो पुष्पोंसे ढँका हुआ था।

मैंने समझा, शालिग्रामजी होंगे। धूपबत्ती एवं दीपक जल रहा था। रामसिंहकी अञ्जलि बँधी थी, नेत्र बन्द थे और दो धाराएँ कपोलोंपर-से गिर रही थीं।

मैं तब तक प्रतीक्षा करता रहा, जब तक उनकी पूजा समाप्त न हुई। आसनसे उठकर जैसे ही उन्होंने मेरी ओर देखा, मैंने अभिवादन करते हुए कहा—'क्या आपके भगवान्‌के दर्शनकर सकता हूँ ?'

'मेरे भगवान् ?' वे कुछ चौंके। 'आजाइये ! मेरे भगवान् यहाँ कहाँ ? ऐसे भाग्य तो पता नहीं कभी होंगे भी या नहीं !'

'यह क्या है ?' मैंने देखा कि सिंहासनपर पुष्प-पूजित कोई मूर्ति नहीं, एक पोटली है। कोई वस्तु पीले सिल्कमें बाँधकर रखी हुई है।

'गुरुदेवकी चरण-धूलि' बड़े सङ्कोचसे उन्होंने कहा—'जब पिछले दिनों वे यहाँ आये थे तो मैंने चुपकेसे इसे एक स्थानसे जबकि वे वहाँ श्रीचरण रखकर निकल गये, एकत्र कर लिया।'

'आप इसका तिलक करते हैं ?' मैंने उन्हें कभी टीका लगाये देखा नहीं है; फिर भी भला धूलिका और उपयोग ही क्या होगा ? यह सोचकर ही मैंने पूछा था।

'मैं केवल इसकी बन्दना करता हूँ !' उन्होंने भरे कण्ठसे कहा—'इसकी बन्दनाका परिणाम है कि भगवान्‌के चरितोंमें मेरी कुछ थोड़ी रुचि हुई है।'

बिगड़ गयी है। नाटक, सिनेमा, नियमहीन आहार-विहार। सुरुचि तो रह ही नहीं गयी। न कथा, न सत्सङ्ग, न भगवच्चर्चा सबके सब बहिर्मुख हो गये हैं। जब सुरुचि ही नहीं तो प्रेम तो क्या होगा। अनुराग कहाँसे आवेगा !'

मैं चौंका—'श्रीगुरुके श्रीचरण-कमलोंकी धूलिको बन्दनासे रामसिंहको सुरुचि मिली और यही उनके अनुरागका मूल है।' हृदयके कवित्वने कहा—'यदि चरण कमल हैं, तो उनकी धूलि पराग हुई। उससे सुगन्धि सुरुचि तो मिलेगी ही। अनुराग तो मधुर रस है—मकरन्द है। वह तो समीप आकर मिलता है। सुगन्धिका आकर्षण जब चरणों तक पहुँचा देता है तो रुचि जागती है।' मैंने अपने आपसे प्रश्न किया 'अर्थात् ?' उत्तर मिला—'अर्थात् रामसिंहके धूलिबन्दनने सुरुचि दी तथा धीरे-धीरे मानसमें गुरुचरणोंका सान्निध्य भी। अतः वहाँ रसमय अनुराग आविर्भूत हो गया।'

भव-रोग-हारी

अमिअ मूरिमय चूरन चारू ।
समन सकल भव रुज परिवारू ।।

यह जावा द्वीपकी बात है। उस समय तक न मूसाका आविर्भाव हुआ था, और न ईसाका ही। योरोपमें विडालाक्ष जातिके लोग कटिमें चर्म लपेटे गिरि-गह्वरोंमें निवास करते थे और भारतकी सीमा मिश्र तक थी। बीचके समस्त पर्वतीय एवं मरु प्रान्त उज्जयिनी द्वारा शाशित-पोषित होते थे। भारतीय पोत ही अपार जलनिधिको चीरकर श्वेत द्वीप(अमेरिका)तक जानेका दु:साहस कर सकते थे। आज भी वहाँ पुरातत्त्व विभागको सूर्यमन्दिर इसी कारण प्राप्त होते हैं।

भारत विश्वका सम्राट् था, पर शोषक नहीं। केवल राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञोंमें प्रत्येक देशसे कुछ कर लिया जाता था। नहीं तो सबके सब अपनी संस्कृति, शक्ति प्रभृतिकी पूर्ण उन्नतिमें सम्पूर्ण स्वाधीन थे। किसीको भी पराधीन करनेकी बात यहाँका मस्तिष्क सोचता ही नहीं था।

भारत केवल सम्राट् नहीं था, वह जगद्गुरु भी था। उसका यह पद पहलेसे बहुत महत्वपूर्ण था। यहांके

अरण्योंमें फूसकी कुटीरोंके भीतर बल्कल एवं एणेयाजिनसे आच्छादित ज्ञानके जो सचल भास्कर निवास करते थे, सम्पूर्ण जगत उन्हींकी दिव्य वाणीसे आलोक प्राप्त करता था। आज भी उनके उस आलोकसे ही विश्व आलोकित है।

बल, तेज, पौरुष सजीव छात्र-शरीरोंमें और त्याग, तपस्या एवं ज्ञान साकार विप्रोंके रूपमें इस पावन आर्यभूमिको आलोकित करते थे। भावनाकी भव्य मूर्तियाँ एकमात्र यहीं प्राप्त हो सकती थीं। क्षुद्र शरीर एवं लौकिक भोग कोई वस्तु ही न थे। यम और इन्द्र यहाँकी धनुष टंकारसे काँपते थे। अपवर्ग आरोहण प्रधान लक्ष्य था अवश्य, किन्तु वह अलभ्य जैसा कुछ नहीं था।

ईशान कोणके सभी समुद्री द्वीप उस समय भारतीय उपनिवेश थे। यहाँसे ही गये हुए बणिक्, विप्रादि वहाँ रहने लगे थे और वहाँके आदि निवासियोंने शासकके रूपमें उनका भव्य स्वागत किया था। उन द्वीपोंमें यवद्वीप प्रधान था। उसके शासक वहाँ सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। सच्ची बात तो यह थी कि उन्हींके वंशज आस-पासके द्वीप-राज्योंके सिंहासनपर अधिष्ठित थे और वे अपने मूल वंशके नरेशको प्रसन्नतासे अपना अधिपति मानते थे।

भारतसे जानेवाले विद्वान् महात्मा अथवा राजपुरुष भी सीधे यव-द्वीप ही पधारते तथा वहींसे उनका सन्देश द्वीप-राज्योंमें प्रसारित होता। आवश्यकता होनेपर यव-

द्वीपके अधिपति ही उनकी इतर द्वीप-यात्राकी व्यवस्था भी करते थे।

एक दिन भारत-सम्राट्की वैजयन्ती ध्वजा फहराता हुआ एक पोत आकर यवद्वीपके पोत-निवासमें रुका। दूरसे ही द्वीपके शासक वर्गने ध्वजा देख ली थी। भूमिपर स्वागतकी समस्त प्रस्तुति थी। पोतके तीर देशमें प्रवेश करते ही शतघ्नियोंकी गगन-भेदी तुमुल ध्वनिसे अभिवादन प्रारम्भ कर दिया था। पोतके तटपर स्थित होते ही शतघ्नियाँ मूक हुईं। शङ्ख-ध्वनियोंके मध्य विप्रोंका साम-गान गुञ्जित हो उठा। मार्गमें पाँवड़े पड़े थे। दोनों ओर सजल घट लिये मुगल-सेविकाएँ खड़ी थीं। स्थान-स्थानपर बने तोरण द्वार तीव्र गतिसे सज्जित हो रहे थे।

सबका अनुमान था कि पोतसे कोई राजपुरुष पदार्पण करेंगे। हुआ विपरीत ही। उससे वल्कलकी कौपीन लगाये, सम्पूर्ण शरीरमें भस्म मले एक तेजोमय गौरवर्ण जटिल तापस निकले। उनके पास केवल एक बल्कलमें बँधी पोटली थी। विप्रोंने जो अपनी अग्नियोंके साथ पधारे थे, साष्टांग प्रणिपात किया। महामात्यने युवराजको आगे करके राजपुरुषोंके साथ उनके चरणोंपर पुष्पाञ्जलि समर्पित की। पुष्प, दूर्वा, लाजा, अक्षतकी वृष्टि प्रारम्भ हो गयी।

'महाराज क्यों नहीं पधारे ?' यव-द्वीपके राजपुरुषोंने देखा कि महात्माके पीछे एक वृद्ध राजपुरुष पूछ रहे हैं।

नहीं हुआ ?' उन वृद्धके स्वरोंमें आज्ञा थी तथा कुछ रोष भी।

'यदि वे आ ही सकते तो हम यहाँ क्यों आते ?' किसीके कुछ कहनेसे पूर्व उन तपस्वीने ही कहा—'अमात्य ! रुष्ट होनेका कोई कारण नहीं ! तुम राज-सम्मान प्राप्त करो और विश्राम लेकर यहाँसे प्रस्थित हो जाना !' फिर उन्होंने आगत राजकुमारसे कहा—'आप लोग भारत सम्राट्के प्रधान अमात्यका स्वागत करें ! मैं एकाकी जाऊँगा ! श्री गुरुचरणोंकी मेरे लिए ऐसी ही आज्ञा है !'

किसीको कुछ कहनेका अवकाश दिये बिना वे अवरोहणिकासे उतरे। लोगोंने मार्ग दे दिया। एक ओर चल पड़े। आश्चर्य चकित रह गये। किसमें साहस था जो उस अवधूतको रोके या उनसे कुछ प्रश्न करे ? दूरसे आदेश आया—'मेरे सम्बन्धमें महाराजको कोई सूचना न दी जावे !'

(२)

'तुम प्रस्तुत हो न ?' गिरिनारकी एक अगम्य गुहामें भगवान् दत्तात्रेयने अपने सम्मुख करबद्ध घुटनोंके बल बैठे युवक तापससे पूछा।

'यन्त्रकी प्रस्तुति क्या ? जब प्रेरक जहाँ चाहे, नियुक्त करदे !' युवकमें अगाध श्रद्धा थी एवं अपार विश्वास था।

'अपनी मुक्ति कोई अर्थ नहीं रखती !' उन योगीश्वरकी वाणी गूंजी। हम सबका त्याग, पवित्रता एवं तप विश्वके लिए है। विभुकी प्रसन्नता प्राप्तिका एक मात्र मार्ग है उत्सर्ग। तुम्हारे समीप जो कुछ है, विश्वके लिए उत्सर्ग कर दो। हमारे साधनकी विभूतियाँ व्यर्थ ही जायँगी यदि अधिकार प्राप्तिके क्षणमें ही किसी साधकको हम सहाय्य नहीं दे सकेंगे।'

'दयामय।' युवकका कण्ठ रुद्ध हो गया। नेत्र सलिलको उन पावन-पदोंपर अर्पित करते हुए बड़े कष्टसे उसने कहा—'इस क्षुद्रको भी प्रभु किसी योग्य समझते हैं, यह इसका अहोभाग्य !'

'त्रित, तुम समर्थ हो !' चाहे वह भले कुछ भी न हो, किन्तु जब वे योगिराट् कह रहे हैं तो अवश्य समर्थ हो गया। 'इसीलिए यह भार तुम्हारे ऊपर डाला जा रहा है !' प्रभुने गम्भीर ध्वनिमें कहा।

'निश्चय।' युवकने दोनों अञ्जलि भर कर प्रभुके चरणोंसे अङ्कित रेणुका उनके पीछेसे उठा ली—'जब तक यह शक्ति मेरे समीप हैं, निश्चय ही मैं ब्रह्माण्डकी सम्पूर्ण शक्तियोंके सम्मुख समर्थ हूँ।' उसकी वाणीमें प्रेमार्द्र विश्वास उमड़ा पड़ता था।

'अच्छा।' प्रभु मुसकराये—'ऐसा ही सही ! अब तुम यहाँसे बाहर जाओ ! नगर द्वारपर राज-प्रतिनिधि तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। तुम्हारे उज्जयिनी जानेका प्रबन्ध हो गया है। वहाँ तुम जैसा चाहोगे, प्रबन्ध हो

जायगा !' उन सर्वसमर्थके लिए यह कोई अनोखी बात नहीं थी।

अभिवादन करके युवक तापस उठा। अपने गुप्त मार्गसे जो केवल सिद्ध योगियोंके आने योग्य ही था, वह बाहर आया। उसे नगर द्वारपर ही राज प्रतिनिधि मिल गया। स्वप्नादेश प्राप्त कर स्वयं सम्राट्ने उसे लेनेके लिए प्रतिनिधि प्रेषित किया था।

विस्तार देना अभीष्ट नहीं है। वह ऐसा युग था जब सम्राट् विप्र-तापसोंके चरणोंमें तुच्छ सेवककी भाँति खड़े होनेमें अपना गौरव समझते थे। नगर सीमा तक आकर महाराजने उसका स्वागत किया। वह राज-सदनका अतिथि हुआ। राज-भवन एवं साम्राज्य-श्रीने उसकी सेवामें अपना भाग्य माना।

केवल यव-द्वीपकी यात्राका प्रबन्ध करनेकी मांग थी। किसी भी आते-जाते वणिक पोतसे जानेकी इच्छा प्रकटकी गयी थी। ऐसा नहीं हुआ। सम्राट् सेवाका सौभाग्य छोड़ने वाले नहीं थे। सेवकोंके साथ स्वयं महाराज समुद्र तट तक पधारे। प्रधान महामात्य सम्राट्के निजीपोतसे उस तापसको लेकर यव-द्वीपके लिए विदा हुए।

(३)

'मैं अच्छा हूँ या बुरा, पापी हूँ या पुण्यात्मा, हूँ उन्हींका। उन चरणोंमें मैंने अपने आपको एक बार छोड़

दिया। यदि मेरे दुर्बल पैर लड़खड़ाये और आश्रयके अभावमें गिर पड़ा तो मेरा अपराध ? उनका कर्तव्य नहीं था कि वे मुझे बचा लेते !' महाराज पता नहीं क्या-क्या प्रलाप किया करते थे। राज-वैद्यके आदेशको माननेकी आवश्यकता उन्होंने समझी ही नहीं। परिचारक समझते थे, यह प्रलाप रोगकी प्रबलताके कारण है।

आज उन्हें अपनी युवावस्थाके वे दिन स्मरण आते हैं, जब वे गम्भीर रहा करते थे। एकान्तको छोड़ना उनके लिए शक्य नहीं था। निरन्तर आत्म-साधनाकी प्रबल प्रेरणा उन्हें अपनी ओर वेग-पूर्वक आकर्षित किया करती थी। भगवान् दत्तात्रेयकी धवल कीर्ति दिशाओंमें व्याप्त थी। मन ही मन वे उन योगिराजको अपना गुरु वरण कर चुके थे और उनकी एकमात्र इच्छा थी एक बार इन चर्म चक्षुओंसे उन श्रीचरणोंके दर्शन।

वह दिन भी स्मरण होता है जब पिताका शरीरान्त हुआ। अमात्योंने बलपूर्वक उनको सिंहासनपर बैठाया। इच्छा न रहनेपर भी विप्रोंकी आज्ञाके सम्मुख उन्हें मस्तक झुकाकर श्वेत छत्रकी छायामें बैठना पड़ा।

पता नहीं किस पाप-प्रारब्धका उदय हुआ। युवावस्था, राज्य-सिंहासन और अतुल सम्पत्ति—गर्वने अधिकार जमाया। सुन्दरियोंका जमघट जुटने लगा, अमात्योंकी शिक्षा एवं सलाह ठुकरायी जाने लगी। राजाके प्रमत्त होनेसे दस्युओंकी बन आयी। प्रजा उत्पीड़ित होने लगी। शासन व्यवस्था अस्तव्यस्त हो चली।

आज छः महीनेसे शय्यासे उठ नहीं सके हैं। शरीरको भोगोंने रोग मन्दिर बना दिया है। जलोदर है, ज्वर आता है, कास (दमा) भी अपने वेगपर है और अब तो सम्भवतः यक्ष्माका सन्देह भी होने लगा है। वैद्य मुखपर कुछ कहते नहीं; किन्तु उनकी म्लान मुद्रा ऐसा ही कुछ कहती है।

स्वाभाविक ही दीर्घ रोगीसे लोग ऊब जाते हैं। वैसे भी कठोर स्वभाव एवं अपने ही भोगमें लिप्त रहकर दूसरोंकी उपेक्षा रखते रहनेके कारण कोई उन्हें हृदयसे नहीं चाहता। राजकुमार भी दूर-दूर खिचे रहते हैं! सेवक एवं अमात्य भी कर्तव्य बुद्धिकी प्रेरणा ही से सब कुछ करते हैं—प्रेमसे नहीं।

रोगी पड़े-पड़े छिद्रान्वेषी हो जाय तो क्या आश्चर्य? महाराजका स्वभाव अत्यन्त चिड़चिड़ा हो गया था और उन्हें अकारण ही सबमें अपने प्रति उपेक्षा ही दृष्टिगत होती थी। अत्यन्त तुच्छ भूलको भी वे बड़े महत्वपूर्ण ढंगसे ग्रहण करते थे। उनके क्रोधी स्वभावके कारण कुछ लोग विशेषतः राजकुमार उनके सम्मुख कम ही जाते थे।

'गुरुदेवने तो अधम समझकर त्याग ही दिया।' महाराजको सम्राट्‌के पोतके आगमनकी सूचना देकर ही अमात्यादि तटपर गये थे। 'जान पड़ता है, मेरे दुर्गुणोंकी सूचना सम्राट् तक पहुँच गयी। क्यों अपनी दुर्गति कराऊँ? मरना तो अब है ही?' महाराज सोचने लगे। रोगने उन्हें आत्म-शक्तिहीन कर दिया था।

जब सम्राट्के प्रतिनिधि प्रधान अमात्यको लेकर युवराज लौटे तो उन्हें सेवकोंने सूचना दी कि महाराजका पता नहीं है।' वस्तुतः वे सेवकोंकी दृष्टि बचाकर राजभवनसे निकल गये थे। एक खलबली पड़ गयी। युवराजने प्रधान अमात्यका प्रबन्ध सेवकोंपर छोड़ा और स्वयं पिताके अन्वेषणका प्रबन्ध करने लगे।

किसीको कोई कष्ट नहीं हुआ। दोपहर बीतते ही द्वार-परसे एक गम्भीर ध्वनि आयी—'ॐ नमोनारायणाय !' दौड़कर राजकुमार मन्त्रियोंके साथ द्वार तक पहुँचे। भले चंगे महाराजके साथ वे युवक तापस द्वारपर खड़े थे।

उन्हें अब महाराज नहीं कहना चाहिये। सर्वांगमें उन्होंने धूलि लगा ली थी। उन्हींके शब्दोंमें-'श्रीगुरुचरणोंकी वह रज उनके समस्त भौतिक शरीरकी एवं मानस रोगोंकी औषधि है।' वे रोगसे ही नहीं, भवरोगसे त्राण पा चुके थे और केवल इसलिए लौटे थे कि युवराजका अभिषेक करके प्रधान अमात्यके साथ ही भारतमें श्रीगुरु-चरणोंमें पहुँच सकें।

सुकृत-विभूति

सुकृति संभु तन विमल विभूती ।
मञ्जुल मङ्गल मोद प्रसूती ॥

'अबकी बार आपके साथ कौन-कौन जा रहे हैं, मिस्टर वॉट ?' डाक्टरने इस प्रकार पूछा, जैसे उसे कुछ कहना ही न हो।

'मेरे दो छात्र और सहकारी मिष्टर लाइट।' प्रोफेसर वॉटका उत्तर संक्षिप्त था।

'क्या इतने व्यक्ति पर्याप्त हैं ?' डाक्टरको वह विन्दु मिल गया था जिसे वह चाहता था।

'पर्याप्त ! डाक्टर, मैं एकाकी ही अपनेको पर्याप्त मानता हूँ।' प्रोफेसरने मुस्कराते हुए कहा।

'फिर भी—आप एक ऐसे प्रदेशमें जा रहे हैं, जहाँ जंगली जानवरोंके साथ डाकुओंका भय हो सकता है। क्या आप एक अच्छा शिकारी····।'

'हम खुद अच्छे शिकारी हैं डाक्टर!' बीचमें ही रोककर प्रोफेसरने कहा—'सच्ची बात तो यह है कि जब कोई भी जीवनके तुच्छ मोहसे ऊपर उठ जाता है,

तो भय उसे भीत नहीं कर पाते और एक कुशल शिकारी-के लिए इतना पर्याप्त है।'

'जब कि आपके साथ दो विद्यार्थी तथा सहकारी जा रहे हैं, उनकी चिकित्साका प्रबन्ध भी तो आपको……।'

'ओह। डाक्टर!' अनुभवी प्रोफेसर खुलकर हँसा। 'यह बात है? तुम साफ क्यों नहीं कहते कि मैं भी साथ चलना चाहता हूँ। वैसे उस जंगल एवं मरु प्रदेशकी बीमारियों तथा उनकी चिकित्साका जितना विज्ञ मैं हूँ, कदाचित् ही लन्दनका कोई डाक्टर निकले। वहांकी वनौषधियोंके ज्ञानके बिना वहाँ चिकित्सा सम्भव नहीं, पर तुम अपनी चीरफाड़ छोड़कर चलोगे कैसे?'

'मेरा मन यहाँ लगता नहीं है।' डाक्टरने कुछ लज्जित स्वरमें कहा—'प्रेक्टिस भी कुछ सन्तोषजनक नहीं चल रही है। अतः आपके साथ घूम आनेका विचार कर रहा हूँ, यदि आप आज्ञा दें। अपना व्यय मैं यहीं जमा कर दूँगा, जो मेरे भागमें आवेगा।'

'मेरे साथ यात्रा करके लौटनेसे प्रसिद्धि हो जायगी और तब सम्भव है, प्रैक्टिस चलने लगे।' प्रोफेसरने व्यंग्य किया।

'आप गलती कर रहे हैं!' डाक्टरके स्वरमें उत्तेजना थी। अपने ऊपर किये गये व्यंग्यसे वह प्रताड़ित हुआ।' मैं सोचता हूँ कि आपके साथ यात्रा करके आपकी ही भाँति सम्भव है मैं भी कोई उपहार अपने विभागमें विश्वके लिए दे सकूँ।'

प्रोफेसर प्रसन्नताके आवेगसे कुर्सीसे उठ खड़े हुए। उन्होंने डाक्टरका हाथ पकड़ लिया। 'हम तुम्हारे उत्साहसे बहुत प्रसन्न हैं! वनौषधियोंके अन्वेषणकी अत्यन्त आवश्यकता है और इसमें तुम्हारी बहुत सहायता कर सकता हूँ!

'तो मैं अपनी यात्रा निश्चित समझूँ?' डाक्टरने उत्साहपूर्वक प्रश्न किया।

'अवश्य!' प्रोफेसरने कहा—'हमारा जहाज बन्दरसे दूसरी मार्चको खुल जायगा। अफ्रीकामें अप्रेल तक हम रहेंगे। ये दो महीने वहाँ बड़े सुन्दर बीतते हैं। हाँ, यात्रा व्यय प्रति व्यक्ति दो सौ पाउण्ड निश्चित किया गया है। लौटनेपर उसका हिसाब हो जायगा। आवश्यक सामग्रियोंकी सूची मेरे सहायकसे मिल जायगी!'

'धन्यवाद!' डाक्टर उठकर खड़े हो गये। 'कल तक दो सौ पाउण्ड यात्रा-फण्डमें मैं जमा कर दूँगा। आज सूची लेता जा रहा हूँ। कुछ विशेष पूछना हुआ तो कल इसी समय यहाँ उपस्थित होऊँगा।' दोनोंने हाथ मिलाये और अभिवादन करके डाक्टर अपनी मोटरमें जा बैठे।

'बढ़े चलो प्रोफेसरने वृद्ध बॉटसे कहा। इस मरुमें कोई भी कामकी वस्तु मिलेगी, ऐसी आशा नहीं थी। मरुस्थलकी तीव्र आँधी चल रही थी। अस्थि तकको कँपा

देनेवाली सर्दी पड़ रही थी। प्रातःकी चाय भी न मिल सकनेके कारण सभी एक प्रकारकी बेचैनीका अनुभव कर रहे थे। वृद्ध प्रोफेसरने यह यात्रा निश्चितकी थी। मुँह-अँधेरे चल पड़े थे और आठ बजे तक लौटकर कैम्पमें चाय पीनेकी बात थी। लेकिन आठ बज गये और कैम्प अभी लगभग चार मील दूर था। प्रोफेसरको आशा थी कि इधर कुछ मिलेगा और यही उन्हें दूर तक खींच लायी थी।

प्रोफेसर सबसे पीछे चल रहे थे। वे स्थान-स्थानपर रुकते और यन्त्रके सहारे तथा घुटनोंके बल पृथ्वीपर लेटकर कान भूमिसे लगाकर कुछ सुननेका प्रयत्न करते। इन कार्योंमें वे इतने व्यस्त थे कि उन्होंने डाक्टरकी बात सुनी ही नहीं। पार्टीके लोग उपेक्षा करके आगे नहीं जा सकते थे। अवश्य ही उनमें झुंझलाहट थी।

'यह वृद्ध पागल हो रहा है!' डाक्टरने हँसते हुए कहा—'इस रेतमें क्या मिल सकता है?' प्रोफेसर पीछे एक स्थानपर पृथ्वीसे कान चिपकाये ध्यानस्थ-से थे। सबको खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ रही थी।

'वे कदाचित ही भूल करते हैं!' प्रोफ़ेसरके सहकारीने शान्त स्वरमेंमें कहा—'जब उनकी पक्की धारणा है तो यहाँ कोई पिरामिड पाना आश्चर्यजनक न होगा!'

'यहीं—यहीं है!' प्रोफेसरने जोरसे कहा—'मिष्टर लाइट, तुम भी देख लो। मैं कहता था कि इधर ही है?'

उन्होंने इस प्रकार कहा मानो उनका सहकारी उनकी बगलमें ही खड़ा हो। वायु अनुकूल थी, अतः सबने सुन लिया।

'यहीं देखो।' दोनों छात्रोंने तथा सहकारीने यन्त्र वहीं लगा दिये।

'यन्त्रसे नहीं, कानसे।' प्रोफेसरने कहा—'भीतर कुछ वायुका गम्भीर अस्पष्ट नाद सुनायी पड़ता है न?'

'कुछ भी तो नहीं!' कान लगाकर सुननेके पश्चात् सबने कहा।

'है क्यों नहीं।' प्रोफेसरने पुनः कान लगाया और और दृढ़स्वरमें उत्तर दिया।

'आपको तो स्वप्नमें भी पिरामिड दीखते हैं।' डाक्टरने हँसते-हँसते व्यंग्य किया।

'कोई चिन्ता नहीं!' प्रोफेसरके मुखपर गम्भीर हँसी झलकी—'अभी शाम तक मेरा स्वप्न तुम भी देखोगे और वह भी जागते हुए!'

चिह्नके लिए वहाँ झंडा गाड़ दिया गया। सब कैंप लौटे और चाय पीकर मजदूरोंकी एक बड़ी टोलीके साथ वहीं पहुँच गये। खोदनेका काम जोरोंसे लगा दिया गया। तीसरा प्रहर हो चला और वहाँ रेतके अतिरिक्त एक ईंटका टुकड़ा भी प्राप्त नहीं हुआ। प्रोफेसरके अनुमानसे दो तीन फीट अधिक ही खोदा जा चुका था।

'अब तो आप इस व्यर्थ कार्यसे निवृत्त हों ! डाक्टरने कहा। सभीको इसमें वृद्धकी हठ जान पड़ती थी और सभी निराश हो चुके थे।

'दस फीट और !' वृद्धने फिर गड्ढेमें कान लगाकर सुना और ऊपर आकर उसने निश्चित स्वरमें कहा—'मैं फिर आग्रह नहीं करूँगा ! गहराईका अनुमान करनेमें मुझसे भूल हुई थी !'

'दस फीटसे ही छुट्टी सही !' सबने एक सन्तोषकी साँस ली !

कभी थोड़ी ही देर हुई—लगभग पाँच फीट और खुदा होगा कि एक मजदूरने ऊपर आकर एक कंगूरा दिखायी पड़नेकी सूचना दी। वृद्ध प्रोफेसर आनन्दसे उछल पड़े।

'आप कोई जादू जानते हैं ?' डाक्टरने आश्चर्य-मुग्ध पूछा। उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि रेतमें अठारह बीस फीट नीचेके पिरामिडको जिसे यन्त्र भी नहीं ढूंढ सकते थे, प्रोफेसरने कानसे कैसे जान लिया और उससे भी बड़ा आश्चर्य उन्हें इस बात पर था कि पिरामिडसे निकली विषैली वायुसे बीमार मजदूरोंको उन्होंने अपनी उसी घासके रससे जिसपर उनके कहनेसे ही डाक्टर कई सप्ताहसे परीक्षण कर रहे हैं, चुटकी बजाते अच्छा कर दिया। उस तृणमें ऐसी कोई भी विशेषता अभी तक तो उन्हें नहीं मिल सकी थी।

'ऐसी क्या बात हुई ?' प्रोफेसरने हँसकर डाक्टरकी ओर देखा। 'मैं भी उन्हीं वैज्ञानिक सिद्धान्तोंके अनुसार काम करता हूँ, जिन्हें मुझसे पूर्वके आदरणीय अन्वेषकोंने स्थिर किया है ?'

'किन्तु इतनी सफलता, इतना आनन्द एवं इतना मङ्गल सुयश सम्भवतः उन्हें भी प्राप्त नहीं हुआ !' डाक्टरके स्वरमें श्रद्धा थी, ईर्ष्या या व्यंग्य नहीं। 'निश्चय ही आप बड़े पुण्यात्मा हैं !'

'ओह, आप यह कहना चाहते हैं कि मैंने वहुत पुण्य किये हैं ?' प्रोफेसर खुलकर हँस पड़े—'और उसीके फलस्वरूप मुझे इतना यश, इतनी सफलता और इतना आनन्द अनायास ही प्राप्त हो जाया करता है !'

'यदि ऐसा नहीं है' डाक्टरने स्थिरता पूर्वक कहा—'तो मैं ऐसा कोई भी कारण नहीं देखता कि आप उसी वीरुधके रससे चिकित्सा करनेमें सफल हो गये, जबकि उसके इस प्रयोगके सम्बन्धमें आपको पहिलेसे कुछ भी ज्ञान नहीं था और आप रासायनिक तथा चिकित्सक हैं भी नहीं। साथ ही मैं जो कि एक डाक्टर हूँ और इधर दो सप्ताहसे उसीपर प्रयोग कर रहा हूँ, ऐसे अवसरपर उसके उपयोगको बात सोच भी नहीं सका !'

'तुम ठीक कहते हो' प्रोफेसरकी मुद्रा गम्भीर हो गयी थी—'इसका कारण जो मेरी समझमें आता है, वह तुम्हें अन्धविश्वास पूर्ण एवं अवैज्ञानिक जान पड़ेगा।'

'फिर भी मैं उसे जाननेको उत्सुक हूँ।' डाक्टरके साथ दूसरे साथी भी उस कारणको जाननेको उत्सुक हो उठे थे।

'तुमने केवल अध्ययन किया है और उन पुस्तकीय सिद्धान्तोंको कार्य-क्षेत्रमें लाने चल पड़े हो।' प्रोफेसर कहते जा रहे थे। 'किन्तु पुस्तकीय सिद्धान्तोंको समझनेमें कहाँपर भूल हो रही है, प्रयोगके क्षेत्रमें यह बात कभी-कभी बहुत देरसे ज्ञात होती है। कभी तो इतनी देरसे कि फिरसे प्रयोगके लिए समय ही नहीं रह जाता।'

कुछ क्षण वे रुक गये और फिर स्वतः कहने लगे— 'किन्तु मेरे विषयमें तुमने सुना होगा कि मैं बचपनमें ही मातृ-पितृहीन हो गया था और मुझे प्रोफेसर मैक्सवेलने पाला था।' अपने आचार्यका नाम लेते समय वृद्धका कण्ठ भर गया और उन्होंने नेत्रोंसे रूमाल लगा लिया।

'उनके पैरोंके पास बैठकर ही मैंने सब कुछ सीखा है।' गद्गद प्रोफेसरने कष्टपूर्वक समाप्त किया—'उनके बूटसे उड़ी धूलि जिसे मैं नित्य उनके जूतोंको साफ करते समय हाथोंमें लगा लेता था, बस वही मेरा पुण्य है। वही मेरे यश, मङ्गल एवं आनन्दको उत्पन्न करने वाली है। मेरा ऐसा ही विश्वास है।'

प्रोफेसरके सहकारी तथा दोनों छात्रोंने आश्चर्यपूर्वक देखा कि वह सुसभ्य डाक्टर उन लोगोंके उपहासकी राई-रत्ती चिन्ता किये बिना उस रेतपर घुटनोंके बल बैठ गया और उस बूढ़े प्रोफेसरके बूटके पाससे दोनों हाथोंसे रेत उठाकर अपने पूरे चेहरेपर उसने मल लिया।

★

गुण-वशीकरण

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।
किएँ तिलक गुन गन बस करनी ॥

'जब अन्त:करण निर्मल हो जाता है तो उसमें स्वयं हृदय स्थित प्रभुका प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष हो जाता है !' महात्मा आनन्द-कन्दजीने समझाते हुए कहा–' भगवद्दर्शनके लिए एकमात्र यही मार्ग है। मलिन अन्त:करण प्रभुको प्राप्त करेगा, इसकी आशा व्यर्थ है।

'तब क्या प्रभु इन वाह्य नेत्रोंके सम्मुख नहीं आते ?' जिज्ञासुने शङ्काकी !

'ऐसा नहीं, किन्तु वाह्य जगतमें हम वही देख पाते हैं जो हमारे भीतर है !' महात्माजीने पुनः स्पष्टीकरण किया—'अथवा यों समझ लो कि हमारा हृदय जितना निर्मल होता जाता है, हमारे नेत्रोंमें उतनी ही निर्मल एवं सूक्ष्म दृष्टि आती जाती है ! जिसके अन्त:करणमें मैल है, उसकी दृष्टिमें भी मैल रहेगा और मैली दृष्टिसे भला उन मायातीतको कोई कैसे देख सकता है ?'

'अन्त:करणकी शुद्धि कैसे हो ?' स्वाभाविक था कि उपरोक्त समाधानके पश्चात् यह प्रश्न उठे।

'शास्त्रोंमें इसके लिए अनेक उपाय बताये गये हैं। अनेक मार्ग हैं। जो जिसका अधिकारी हो, उसे उसीका अवलम्बन करना चाहिये!' स्पष्ट था कि महात्माजी बहुत गोल-मोल उत्तर दे रहे थे और वे इस प्रश्नसे छुटकारा चाहते थे।

'तब मुझे इस प्रकार पूछना चाहिये कि मैं किस उपायसे अन्तः शुद्धि करूँ?' प्रश्नकर्ता अत्यन्त घुला-मिला था। वह सदा महात्माजीके समीप रहनेवालोंमें था। और उसीसे निःसङ्कोच हो गया था।

'भैया, यह काम गुरुका है! उस गुरुका जो मुमुक्षुके अधिकारको परख सके!' महात्माजीके स्वरकी नम्रता बतला रही थी कि वे अत्यधिक संकुचित हुए हैं। 'गुरु वही हो सकता है जो शास्त्रज्ञ एवं आत्मदर्शी दोनों हो। यह तो तुम जानते ही हो कि मैं शास्त्र-ज्ञानके सम्बन्धमें कोरा हूँ और साधन भी मैंने किये नहीं हैं।'

'आप तो टालना चाहते हैं!' हँसते हुए प्रश्नकर्ताने फिर पूछा—'अच्छा, आपने स्वतः यह स्थिति कैसे प्राप्त की?'

'यह स्थिति? इस स्थितिसे तुम्हारा क्या अभिप्राय है?' महात्माने गम्भीरतासे पूछा—'तुम मेरे इससे पहलेके जीवनके सम्बन्धमें कुछ जानते हो?'

प्रश्नकर्ता तो क्या, यहाँ कोई भी नहीं जानता कि महात्मा आनन्दकन्दजी कौन हैं, कहांके हैं, किस जातिके

हैं। बहुत पुरानी बात है जब नर्मदा-तीरकी इस अमराईमें लोगोंने एक हट्टे-कट्टे लम्बे कृष्ण-वर्ण पुरुषको प्रातःकाल इसी वट-वृक्षके नीचे पत्थरकी शिलापर बैठे देखा था।

लोग कहते हैं कि उस समय इन महात्माजीको देखकर बहुतोंको सन्देह हुआ कि वह चोर या डाकू है। कुछ लोगोंने सताया, गालियाँ दीं और मारा भी। बड़ा दुःख हुआ उत्पीड़कोंको जब हैजेके प्रकोपके समय उस साधु पुरुषने उनके घरोंके लोगोंकी, उनकी प्राणपणसे सेवाकी। वार-बार वे उच्च स्वरसे 'आनन्दकन्द' कहा करते थे, इसीसे उसका नाम आनन्दकन्द पड़ गया। वैसे अपने सम्बन्धमें कुछ पूछे जानेपर वे सदा हँसकर चुप हो जाया करते थे।

आज तो वे महात्मा आस-पासके लिए आपत्तिमें आश्वासन, रुग्णावस्थामें परिचारक और सदा सत्परामर्शदाता थे। उनमें क्रोध कभी नहीं देखा गया। कुटीमें संग्रह था; किन्तु वह सदा उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता था! इस सद्गुणोंकी मूर्तिको लोग साक्षात् देवता मानते थे।

'आप क्या जन्मसे ही ऐसे हैं?' प्रश्नकर्तामें कुतूहल जग उठा।

'कथा बड़ी लम्बी है और अब मुझे नाहतकरको देखने जाना है!' महात्माजीने कहा—'उसके ज्वरका आज तीसरा दिन है। अतः कलपर इसे रहने दो।' एक

पूरी भीड़ महात्माजीके साथ वहाँसे निकली और आगे लोग अपने-अपने मार्गसे पृथक् होने लगे।

(२)

'तुमने डाकू अभयसिंहको देखा है ?' महात्माने पूछा।

'देखा तो यहाँ सम्भवतः किसीने न होगा' एक तरुणने कहा—'किन्तु बचपनमें मैं उसका नाम बहुत सुना करता था। इधर बीस वर्षसे उसकी कोई बात सुननेमें नहीं आयी।' तरुणको यह प्रश्न असंगत लगा था। वह जानता था कि महात्माजी व्यर्थ चर्चा नहीं करते और उनके समीप यदि कोई किसी व्यक्ति या घटनाकी व्यर्थ चर्चा चलाता है तो वे उद्विग्नसे हो उठते हैं और प्रसंग बदल दिया करते हैं। इसीसे वह शङ्कित हो उठा कि उस भयंकर डाकूने कहीं फिर किसीको सताया या सतानेकी धमकी तो नहीं दी।

वट वृक्षकी सघन नीलाभ छायामें, मूलके चारों ओर बनी विस्तृत वेदिकापर जो गोमयसे लिपी थी, प्रतीचीमें चटाइयोंपर आज पर्याप्त लोग बैठे थे। मध्यमें मृगचर्म डाले महात्मा आनन्दकन्दजी आसीन थे। उनकी कटिमें मृगचर्म लिपटा था। श्मश्रु एवं जटाओंके केश कृष्ण-श्वेत मिश्रित थे। अब भी उनका शरीर सुगठित था तथा सुपुष्ट मांस-पेशियाँ चमक रही थीं। उनकी मुद्रा शान्त एवं गम्भीर थी। उनकी तेजपूर्ण दृष्टिके सम्मुख नेत्र सीधे नहीं हो सकते थे। वहाँ जाकर मन स्वाभाविक शान्त हो जाया करता था।

आस-पासके गाँवोंके श्रद्धालु भक्तोंको कल ही कानों-कान समाचार मिल चुका था कि महात्माजी अपना पूर्ववृत्त सुनावेंगे। अतः पर्याप्त व्यक्ति वहाँ आ गये थे। नहीं तो दो-चार व्यक्तिसे अधिक कभी ही वहाँ दिखायी नहीं पड़ते हैं। अपने दैनिक जीवनके भारसे मानवका बोझिल कन्धा इतना कहाँ अवकाश देता है कि वह दो घड़ी एकान्त-शान्तका आनन्द ले।

'हाँ अब इधर बहुत वर्षोंसे अपनी क्रूरतासे परित्राण पा गया है।' महात्माजीने उस सम्मुख बैठ तरुणसे कहा जो कल भी प्रश्नकर्ता था। 'वह बड़ा भयङ्कर डाकू था। उसके सहचर तक उससे डरा करते थे। उसे दया करना तो आया ही नहीं था। न उसने ब्राह्मण माने और न बाल-वृद्ध। पता नहीं कितनी महिलाओंको उसने लूटा होगा। हत्या उसके लिए एक क्रीड़ा थी। वैसे तो तुम सब भी वन-पशुओंकी हत्याकी क्रीड़ा करते ही हो। वह इस शिकारमें मनुष्यों तक बढ़ गया था।'

'तब क्या आप उसे जानते हैं?' प्रश्नकर्ताके मनमें कुतूहल हुआ। श्रोताओंमें कानाफूसी होने लगी। लोगोंने अनुमान किया कि अवश्य महात्माजीके उपदेश और प्रयत्नसे ही उसने डकैती छोड़ी होगी। लोग वर्षोंसे देखते आ रहे थे कि गाँवमें कोई किसीका कुछ अपराध कर देता तो महात्माजी स्वतः उसे क्षमा कराने पहुँच जाते! बिगड़े युवकोंको वे चुटकी बजाते सीधे कर लेते थे। यही आजका प्रश्नकर्ता—चोरीमें इसने जेल काटी है और

शराबके बिना उससे रहा न जाता था। पक्का जुआरी था। आज वह भगत बन गया है।

'मैं कह चुका हूँ कि अब उसने अपने सब कुकृत्य छोड़ दिये हैं और सभ्य बननेके प्रयत्नमें है।' महात्माजीने कहा।

'वह भला क्या सभ्य बनेगा ?' तरुण तनक हँसा। 'वह कहाँ रहता है ?' उसे यह पता था कि महात्माजी यह बात नहीं बतावेंगे।

'यदि वह तुम्हारे सम्मुख आ जाय तो तुम क्या करोगे ?' कुछ मुसकराते हुए उन्होंने पूछा।

'हम इतने लोग हैं' तरुणने कहा—'वह हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगा। हम उसे पकड़ लेंगे और पुलिसमें दे देंगे !'

'उसने बिगाड़ना तो छोड़ ही दिया है।' महात्माजीने पूछा—'तब भी तुम उसे पुलिसमें दोगे ? उसके लिए अब भी दस हजारका पुरस्कार सरकार देनेको प्रस्तुत है।'

'पुरस्कारके लिए नहीं !' तरुण जानता था कि वह लोभसे निर्लिप्त नहीं रह सका है। 'न्यायके लिए उसके साथ यह व्यवहार करना ही चाहिये।'

तो तुम उसे दयामय कहकर क्षमा चाहते हो और दूसरेके साथ न्याय करोगे ?'

तरुणने लज्जासे मस्तक झुका लिया। महात्माजी कहने जा रहे थे। 'अभयसिंह तुम्हारे सामने बैठा है ! मैं ही अभयसिंह हूँ !! मैं तुम्हारे न्यायको सिर झुकाकर ले लूँगा। आओ, मैं स्वयं चलता हूँ थानेपर !' सचमुच वे उठकर खड़े हो गये। लोग भौंचक्केसे रह गये। उनकी समझमें ही नहीं आया कि उन्हें क्या करना चाहिये।

[३]

सभीके हृदय होता है और न भी हो तो क्या ? एक ऐसी भी शक्ति है जो हृदयहीन प्रकृतिके नियमोंपर भी शासन करती है। जिसके संकेतपर जड़ पाषाण शिला भी द्रवित, श्रवित एवं पुलकित हो जानेमें समर्थ होती है।

पुलिस सब-इन्स्पेक्टरने स्पष्ट कह दिया कि—'आप चाहे कोई भी हों, अभयसिंह नहीं हो सकते ! और यदि हों भी तो मैं आपको गिरफ्तार करनेकी शक्ति अपनेमें नहीं पाता।'

जिनके दर्शनोंको इन्स्पेक्टर ही नहीं, बड़े साहब भी कई बार आ चुके हैं और उन लोगोंने भी सन्देह नहीं किया है, उसे वह कैसे गिरफ्तार कर लें ? ऐसे समाचार छिपे नहीं रहते, पर इसके लिए फटकारके बदले उसे

ऊपरसे बधाई ही मिली। इसे उस अज्ञात शक्तिकी प्रेरणा ही मानना होगा।]

'एक दिन अभयसिंहने बड़े कोल्हटकर (समीपके सबसे बड़े रईस) को सूचना दी कि तुम्हारे यहाँ कल रात्रि हम सदल बल पधार रहे हैं! स्वागतकी सामग्रीके रूपमें दस सहस्र मिलें!' महात्माजी लौट आये थे और उसी बट वृक्षके नीचे उस दिनसे कहीं अधिक लोगोंके बीचमें वे अपना पूर्ववृत्त सुना रहे थे।

'भीरु कोल्हटकर—अभयसिंह जानता था कि वह पुलिस बुलानेका साहस नहीं करेगा।' महात्माजीका स्वर भरा जा रहा था। 'केवल चार-पाँच साथियोंके साथ वह रात्रिको अंधेरा होते ही आठ बजेके लगभग वहाँ जा धमका।'

तनिक रुककर वे कहने लगे—'उस दिन वहाँ बड़ी भीड़ थी। उस श्रद्धालुके कारण महाप्रभु नामदेव पधारे थे और उनके अभङ्गसे जनता धर्म-चैतन्य हो चुकी थी!'

महात्माजीने नेत्र पोंछे, भीड़से बाहर वह श्रद्धामय जिसे तुच्छ तस्कर कायर समझता था, उसे मिला और उसने डाकूके करोंमें एक थैली देते हुए कहा था—'अभयसिंह, कीर्तनमें बाधा पड़े, इससे पूर्व ही तुम्हें चले जाना चाहिये!' किन्तु वह मधुर ध्वनि उस अपवित्र कानोंमें भी जा चुकी थी। 'मैं भी कीर्तन सुनूँगा!' अभयसिंहने थैली लौटायी नहीं; पर उसे उस सन्तके चरणोंमें चढ़ानेकी बात सोच ली। उस मूर्खको पता नहीं

था कि वे चरण त्रिभुवनकी लक्ष्मीको ठुकराकर इस मञ्च-पर आये हैं।

महात्मा विह्वल होते जाते थे। 'फिर क्या हुआ सो बहुत नहीं कहना है। रात्रि ढलनेपर भीड़ छँटने तक डाकू पीछे खड़ा रहा और भीड़ हटते ही वह उन चरणों तक पहुँचा। उसने उनकी रज मस्तकपर लगायी और एक क्षणमें वह कुछ-का-कुछ हो गया। दूसरे दिन तो सायंकाल यह आनन्दकन्द इस बटके नीचे पहुँच चुका था।'

लोग आश्चर्यमें थे—'एक दिन कुछ घण्टोंमें इतना बड़ा परिवर्तन!' उधर महात्माके नेत्र झर रहे थे और वे कह रहे थे—'प्रभो, फिर दर्शन न होंगे?'

किसीने पीछेसे दौड़ते हुए आकर कहा—'श्रीनामदेव महादेव आ रहे हैं!' महात्मा चौंक कर खड़े हो गये। दूरसे किसी बड़ी भीड़की कण्ठ-ध्वनि करतालोंकी झँकारके मध्य गूंजती आ रही थी—

'रुक्माई विट्ठल!'

—❖—

९

अन्तर्दृष्टि-उन्मेष

दलन मोह तम सो सुप्रकासू।
बड़े भाग उर आवहिं जासू।
उघरहिं विमल विलोचन ही के।।

'तब आपको दूसरा विवाह कर लेना चाहिये।' हाथकी तम्बाकूको धीरे-धीरे ठोंकते हुए पण्डितजीने कहा—'अभी आपकी अवस्था ही क्या हुई है। लोगोंको पचास-पचपन तक शादी करके पुत्र होते बराबर देखा जाता है। दूर क्यों जायँ, बगलमें सेठ मटरूमल को ही देख लीजिये न।' पण्डितजीका मुख बन्द होने वाला नहीं था; परन्तु उन्होंने तम्बाकू मुखमें डाल दी थी, ठोंक-पीटकर चुटकी भर कर और उसे दाँतों तथा ओष्ठके बीचमें दबाये रखनेके प्रयत्नमें लग रहे थे।

'दूसरी शादी तो मैं नहीं करूँगा।' सेठ रामजीवनदासने खिन्न स्वरमें कहा—'प्रारब्ध होगा तो हो जायगा और नहीं तो पुत्र की इच्छा....।' कहते-कहते उनके नेत्र कुछ भर आये थे, पर पण्डित जी अपनी सुर्तीकी पीक थूकने उठ कर नालीकी ओर मुख झुकाये थे। उन्हें लक्षित नहीं हुआ।

'प्रारब्ध तो होगा ही, पर पुरुषार्थ भी तो कोई वस्तु है। पुरुषार्थ भी तो करना चाहिये। आप अपनी ओरसे

सब उपाय कर लें और सफलता न हो तो भाग्य।' पण्डितजीने अपनी लटर-पटर पगड़ी सँभालते हुए कहा— 'इतना बड़ा ऐश्वर्य, इतनी लक्ष्मी और इतना मान, कोई भोगनेवाला तो चाहिये! अन्ततः पिण्ड देने वाला न होगा तो कैसे काम चलेगा।'

सेठजीको पिण्ड-दाताकी तो उतनी आवश्यकता नहीं थी; लेकिन एक तोतली बोली, डगमग पग, हँसते हुए भोले मुखको उनके मानस-नेत्र सदा देखते रहते थे और सेठजी उसे गोदमें उठाकर पुचकारनेको व्याकुल रहते थे। यों बच्चोंसे उनका सहज स्नेह था। किसी भी बालकको वे बड़े प्रेमसे गोदमें उठाते थे। लेकिन यह वात्सल्य उन्हें बालकमें आत्मत्वके लिए और भी आकुल कर देता था।

'आपको कुछ करना नहीं होगा। बस 'हाँ भर कर दीजिये।' पण्डितजी अपने वास्तविक उद्देश्यपर आ गये। 'मैं सब ठीक कर लूँगा। बड़ी सुन्दर लड़की है। पढ़ी लिखी है, सुशील है। पासकी ही है। आपने तो देखी भी होगी, वही तेलकी दूकान करने वाले जो हैं....!' एक तो मुखमें पीक भर गयी थी और दूसरे पण्डित जी मँजे खिलाड़ी थे। वे देख भी लेना चाहते कि उनके वाक्योंका कुछ प्रभाव पड़ा भी है या नहीं।

'अब विवाह तो क्या करूँगा।' सेठजीने मस्तक नीचे झुका लिया और बहीके पन्ने पलटते हुए कहा— 'लोग क्या कहेंगे!'

'लोग कहेंगे अपना सिर !' पण्डितजीने भाँप लिया कि सेठजीके भीतर धुकुर-पुकुर हो रही है। 'आप क्या कोई नयी बात करने जा रहे हैं। लोग तो तीन-तीन, चार-चार किये बैठे हैं ! मजाल है कि कोई अंगुली उठा दे।' पण्डितजी जोशमें आ गये थे और उनका स्वर पञ्चममें पहुँच गया था।

'सो तो है ; पर आजकल हवा बदल गयी है।' सेठजीने दबे स्वरमें कहा– 'ये सभा-समितियाँ और अखबारवाले जाने क्या-क्या लिख मारेंगे।'

'आप भी कहाँ की कहते हैं।' अपनी कृष्ण-वर्ण दन्तावलीकी छटा प्रदर्शित करते हुए पण्डितजीने मुख ऊपर उठा लिया था, जिसमें तम्बाकूकी पीक कुर्तेको भूषित न करे। 'अरे ये सब तो टुकड़े पाने तक भूँकते हैं। इनका मुख तो सहज ही बन्द किया जा सकता है।' सेठ जी जानते थे कि यही उत्तर मिलेगा। वे मूक हो गये।

'अच्छा, तो अब नारियल लेकर आऊँगा !' पण्डितजी झटपट खड़े हो गये। वे अवसर पहिचानते थे। अब वे ठहरने वाले थे नहीं।

[२]

'बेटा, मेरी एक बात मानोगे ?' मरण-शय्यापर पड़े वृद्धने कहा।

'आज्ञा कीजिये !' दोनों हाथ जोड़कर युवकने अपने उत्सुक नेत्र उस बुझते मुखपर गड़ाये।

‘आज्ञा नहीं, सलाह !’ वृद्धने स्थिर नेत्रोंसे देखते हुए कहा– ‘मैं इसे कितना मानता हूँ, सो जानते हो। इसे कष्ट मत देना और इसके रहते दूसरी शादी····!’ कण्ठ रुक गया। वृद्धके नेत्र पुत्रीकी ओर मुड़े। वह सिसक रही थी।

‘कभी नहीं करूँगा पिताजी !’ युवकने दोनों हाथोंसे चरण पकड़े और नेत्रोंका बाँध फूट पड़ा। श्वसुरका दाहिना हाथ दामादको आशीर्वाद देने उठा; पर गिर पड़ा।

सेठ रामजीवनदास काँप उठे। गद्दीपर लेटते ही उनकी दृष्टि ऊपर लगे विशाल चित्रपर पड़ी और उपरोक्त दृश्य नेत्रोंके सम्मुख घूम गया। उन्होंने चाहा कि नेत्र वहाँसे हटा लें, किन्तु नेत्र तो मानो वहीं चिपक गये थे।

‘तुम क्या थे ? कितनी दयनीय दशा थी तुम्हारी ? मैंने तुम्हें आश्रय दिया, पढ़ाया और जामाता बनाकर अपना सर्वस्व दे दिया !’ मानो वह चित्र उनसे बड़े क्रूर शब्दोंमें कह रहा था– ‘उसका तुम मुझे यह बदला देने चले हो ? कहाँ गयी तुम्हारी प्रतिज्ञा ? तुम विश्वासघात करोगे हमारे साथ ? साथ ही उस सरला, साध्वीके साथ भी जो तुम्हें देवता मानती है ? उसीके घर, उसीकी सम्पत्तिके स्वामी बनकर तुम उसे यह पुरस्कार दोगे ? यदि वह सरला न होती, देखते नहीं हो कि घर-जामाता-को पत्नीका सेवक बनकर रहना होता है ? तुम उसके सौजन्यका उसे यह बदला दोगे ?’

'ना, ना, ऐसा नहीं होगा।' सहसा सेठजीके मुखसे निकल गया। 'कितनी सुन्दर है वह!' दूसरे ही क्षण एक बड़े-बड़े नेत्रोंवाला यौवनसे भरा हुआ चंचल मुख आँखोंके सामने आ गया। 'कैसी अल्हड़ है, कितनी चपल है!' सेठ जी प्रायः उस लड़कीको नित्य ही शामको टहलते जाते समय देखा करते थे। वैसे भी उसे देख कर वे आकर्षित हुए बिना नहीं रहते थे और अब तो बात ही दूसरी थी।

'कौन भोगेगा इस सम्पत्ति को?' आज जैसे सचमुच उन्हें सम्पत्तिका उत्तराधिकारी ही मिलने जा रहा था। 'एक घुटनों चलता बालक, दो उज्ज्वल दँतुलियाँ, सेठजी विभोर हो उठे। मन-ही-मन उन्होंने बालकको उठा कर गोदमें लिया। 'क्या सुख है जीवनमें यदि एक बच्चा भी न हुआ। परलोकमें पिण्ड देनेवाला भी तो चाहिये? आज इतनी पिण्डकी आवश्यकता उन्हें और कभी प्रतीत नहीं हुई थी।

'ब्राह्मण नारियल लेकर आवेगा!' उत्फुल्ल होकर उन्होंने सोचा– 'भला ब्राह्मणका, आये हुए नारियलका, उसे भेजनेवाले परिवारका और उस कुमारीका अपमान क्या अधर्म नहीं होगा?' अपने ही मनके इस नवीन तर्कने उन्हें आश्वासन दिया।

'तुम विश्वासघात करोगे?' फिर चित्रपर दृष्टि

लेकिन उसके वे शब्द मानो सचमुच कानोंमें गूँज रहे थे।

'क्या चाँदी बेचनी है ? भाव अब और नहीं चढ़ता दीखता !' मुनीमने पूछा।

'मैं कुछ नहीं जानता !' झुँझलाकर सेठजीने डाँट दिया। उनका मन काममें नहीं लग रहा था।

'सेठ जी, सरकी बहुत सस्ती है। कुछ सौदा....' दलाल कह रहा था।

'भाड़में जाय सरकी !' सेठजी उठ खड़े हुए। उन्होंने पगड़ी उठाकर सिरपर रखी और नीचे मोटरमें जा बैठे। भीतर मुनीम गुमाश्तोंमें काना-फूसी हो रही थी।

[२]

'गुरुदेव !' नित्य की भाँति, किन्तु नित्यसे कुछ पूर्व ही सेठजी अपने पूजाके कमरेमें चले गये थे। सिंहासनपर श्रीमन्नारायणकी भव्य मूर्ति कौशेय वस्त्र एवं स्वर्णाभरणसे सज्जित विराज रही थी और नीचे किसी साधुका सुन्दर फ्रेममें मढ़ा हुआ पुष्प-पूजित बड़ा-सा चित्र था। सेठजी उसी चित्रके चरणोंके पास मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगे।

दोनों ओर धूपदानीसे सुगन्धित धूम उठकर कमरेको पूर्ण कर रहा था। मल्लिका एवं पाटलकी भीनी सुरभि मनको प्रसन्न कर रही थी; किन्तु सेठजीका

अन्तर्द्वन्द्व जो घरमें पत्नीको देखकर और भी तीव्र हो उठा था, सीमापर पहुँच चुका था।

सहसा वे मस्तक उठाकर हँस पड़े। उत्तरीयसे ही नेत्र पोंछ डाले। 'धन्य प्रभु!' पुनः गद्गद होकर उन्होंने उसी चित्र-मूर्तिके चरणोंमें प्रणाम किया। इतनी शक्ति उन चरणोंमें है, यह वे कभी अनुभव नहीं कर सके थे। इतनी आकुलतासे उन्होंने कभी उनका स्मरण भी तो नहीं किया था।

'नीचे बैठकमें पण्डित भोलानाथ जो बैठे हैं!' पत्नीने द्वारके बाहरसे देख लिया कि सेठजी संध्या-पूजा कर चुके हैं तो उसने बड़े कोमल स्वरमें सूचना दी।

'सुनो तो!' लौटती पत्नीको मुसकराते हुए सेठजीने पुकारा—'पण्डितजो नारियल लाये हैं। उनके मुँह मीठा करनेका प्रबन्ध कर लो!' वे बराबर हँसते जा रहे थे।

'कैसा नारियल?' वेचारीको समझमें खाक पत्थर न आया।

'तेलवाले सेठ गोपालदासकी लड़की देखी है?' सेठजीने और हँसते हुए कहा–'उसीका नारियल!'

'जाओ, तुम्हें तो हँसी ही सूझती है।' वह लौट पड़ी।

'क्यों, क्या पुत्र-वधू बनाने योग्य वह लड़की नहीं?' सेठजीने पूछा।

'पहिले पुत्र भी तो हो !' सेठानीने कुछ करुण स्वरमें कहा।

'मैं भाई दामोदरदत्तके बड़े लड़केको गोद लेने जा रहा हूँ।'

सेठजीने अबकी गम्भीरतासे कहा- 'उसके लड़का होगा तो तुम्हें एक छोटा सा-मुन्ना खिलानेको मिल जायगा। कोई आपत्ति तो नहीं।'

'सच ?' पास आकर पत्नीने हाथ पकड़कर पूछा— 'हँसी तो नहीं करते ? तुम तो उनसे जाने क्यों मुख मोड़े रहते थे।'

'वह बात नहीं रही। आज मेरे बड़े पुण्य जगे हैं। आज ही पहिली बार गुरुदेवके चरणोंका अन्तरमें दर्शन पाया।' सेठजीने कहा— 'अब वह मोह नहीं रहा। हृदयके नेत्र अब सब देखते हैं— अच्छा पण्डितजीसे नारियल ले लूँ।'

दुःख-नाश

मिटहिं दोष-दुख भव रजनी के ।

'स्वामीजी, आपको कभी अप्रसन्न होते नहीं देखा। क्या आपको क्रोध आता ही नहीं ?' बड़े संकोचसे मैंने पूछा।

'क्रोध किसपर आयेगा नारायण ? सभी तो उसी अखिलेश्वरके स्वरूप हैं।' बड़े स्निग्ध स्वरमें उत्तर मिला।

रजनीके उस निभृत नीरव एकान्तमें, भगवती भागीरथीके भव्य तटपर अश्वत्थके मनोहर मूलके समीप उस पाषाण-शिलापर पद्मासनसे प्रतिष्ठित प्रतिमाके समान वे स्थिर, अपलक, शान्त आसीन थे। पूर्णचन्द्रकी सम्मुखसे आती उज्ज्वल किरणोंके प्रकाशमें उनका तेजोमय ललाट चमक रहा था। गङ्गाकी 'हर हर' तथा सुदूर वनप्रान्तसे आती उलूककी यदा-कदा कर्कश ध्वनि वहाँकी शान्तिको प्रभावित करनेमें समर्थ न थी।

घरपर भाईसे कहा-सुनी हो गयी थी और उद्वेगमें मैं जान छुड़ाकर गङ्गा किनारे टहलने निकल आया था। दूरसे ही इन तरुण तापसके दर्शन हुए और मैं मुड़ पड़ा। वे भी कुटियासे एकांत तटपर चाँदनीमें आ बैठे थे।

पहुँचते ही चित्त शान्त हो गया। उद्वेग जाता रहा। प्रणाम करके समीप भूमिमें ही बैठ गया।

'तुम कभी अपने यहाँके कलेक्टरपर उसके सम्मुख क्रोधित हुए हो ?' उन्होंने पूछा।

'ऐसा कैसे सम्भव है ?' मैंने संक्षिप्तमें उत्तर दिया।

'यह इसलिए सम्भव नहीं कि उसके सम्मुख रहनेपर तुम्हें उसकी शक्तिका ज्ञान रहता है और तुम जानते हो कि तुम उसकी कोई हानि नहीं कर सकते ?' उन्होंने कहा।

'बात तो ऐसी ही है।' मुझे स्वीकार करना पड़ा।

'विश्वका वह अधीश्वर सब कहीं है और सर्वदा सम्मुख रहता है। उसीपर कैसे क्रोध आ सकता है ? उसके सम्मुख दूसरेपर भी क्रोध कैसे किया जा सकता है ?' मुझे बड़े प्रेमसे वे समझा रहे थे सम्भवत: वे जान गये थे कि मैं क्रोधित होकर घरसे आया हूँ।

'क्रोध प्रकट हो या न हो, होता तो है ही। यह दूसरी बात है कि महान्के सामने प्रकट न होकर वह दु:ख देता है।' मैंने नि:सङ्कोच अपनी शङ्का उपस्थित कर दी।

'देखो, काम और क्रोध परस्पर भाई हैं !' उन्होंने कहा—'क्रोध आता ही इसीलिए है कि पहले काम आ चुका है। तुम कोई कामना रखते हो, कुछ चाहते हो और वह नहीं होती, इसीलिए तुम्हें क्रोध आता है।' बड़े सरल ढङ्गसे बताया उन्होंने।

'तब क्या आपके मनमें कभी विकार भी नहीं आता ?' मैंने कामका विशेष अर्थ ही लेकर पूछा। युवावस्थामें विकार न आना मेरे लिये अद्भुत बात थी और स्वामीजीकी अवस्था अभी पैंतीस ही तो है।

'विकार और कामना एक ही बात है। स्त्रीकी कामनाओं तुम विकार कहते हो और किसी भी इच्छाको मैं कामना।' उन्होंने प्रसंग बदला नहीं। 'कामना अप्राप्यके लिए नहीं होती और प्राप्यसे तुच्छके लिए नहीं होती।' वे तनिक रुके।

'भिखारी सम्राट होनेकी बात नहीं सोचता और नरेश कुछ पाना नहीं चाहता। कामना सदा कष्ट-प्राप्यके लिए होती है।' उन्होंने जो कुछ कहा—चुपचाप स्वीकार कर लेना पड़ा।

'ये सब भोग अत्यन्त तुच्छ हैं। इसके लिए कामना कैसी ?' सम्भवतः वे अपने सम्बन्धमें कह रहे थे। 'जिनकी सत्ता ही नहीं है, उनकी सत्ता-प्राप्तिकी सम्भावना कहाँ ? फिर उनके लिए कामना क्यों उठेगी ?' मैं भला इसका क्या उत्तर देता।

रात्रि अधिक हो रही थी। मेरा क्रोध कभीका दूर हो चुका था। अतः प्रणाम करके मैं घर लौट चला।

[२]

हम लोग उन्हें स्वामीजी कहते हैं। वे संन्यासी हैं कि नहीं, सो मैं नहीं जानता। कभी गेरुआ पहिने देखा

नहीं। एक टाटकी कौपीन लगाये रहते हैं। कुटीमें एक तखत है, उसपर मृगचर्म पड़ा रहता है। जाड़ोंमें मोटे कम्बल रख लेते हैं और फाल्गुन बीतते ही किसीको दे डालते हैं। आगन्तुकोंके बैठनेके लिए कुछ चटाइयाँ और दो तीन तूँबियाँ भी हैं।

हम लोगोंके लिए वे चिर परिचित हैं। इस गाँवमें तो उनका जन्म हुआ है। स्मरण नहीं क्या बात हुई, कोई बड़ी बात नहीं थी, वे घर-द्वार छोड़कर बेपता हो गये। उनकी स्त्री बहुत रोयी। छोटे भाईने बहुत दौड़ धूप की, उनका कोई पता नहीं लगा। अपने साल भरके बच्चेका भी उन्हें मोह नहीं हुआ।

पूरे एक युग बाद अचानक गङ्गा किनारे घूमते हुए यहाँ इसी वेषमें आ निकले। सब लोगोंने आग्रह किया, मान गये। यह कुटिया गाँवके लोगोंने बना दी है। वे अब भी भिक्षा ही करते हैं। हम लोगोंने बहुत चाहा कि बारी-बारीसे हम भोजन पहुँचा दिया करें, भाईकी हठ थी कि घरसे रोज भोजन आया करे; पर साधूकी हठसे सब हारे हैं।

भाई तो अकेला है। घरके काम-काजसे उसे अवकाश कम मिलता है। अवसर मिलते ही कुटियापर पहुँचता है। लेकिन लड़का तो सदा वहीं बना रहता है। भगवान् वैसा पुत्र सभीको दें। इतनी सेवा कोई अपने गुरुकी भी नहीं करेगा? सभीका विश्वास हो चला कि वह भी उनका शिष्य होकर साधु हो जायगा। उसकी बेचारी माँ

बहुत रोती है। और कर भी क्या सकती है? लड़का मना करनेसे मानेगा थोड़े?

आज कुटीपर एक दूरके नवीन सज्जन पधारे थे। स्वामीजी स्नान करने गङ्गा-किनारे चले गये थे। नियमानुसार अनुरूप भी साथ गया था। यहाँ एकान्तमें मैं उन सज्जनको स्वामीजीका परिचय दे रहा था।

स्वामीजी आगये। उठकर नवागन्तुकने चरणोंमें मस्तक रखा। बैठनेके लिए कहकर वे कुटियामें चले गये। उनकी लंगोटी धोकर, तुम्बेमें जल लेकर अनुरूप पीछे स्नान करके लौट रहा था।

'अरे, सांप।' जोरसे पीछेसे शब्द आया। हम सब दौड़े। बेरके पास जहाँ घास बढ़ गयी है, अनुरूप पैर पकड़े बैठा था। तुम्बा एक ओर पड़ा था। उसका मुख भयसे विवर्ण हो चला था। मैंने झुककर देखा पैरके अंगूठेके ऊपर दाँत लगनेके चिह्न थे और कुछ काला पानी-सा बह निकला था।

देखते-देखते सारा गाँव उमड़ पड़ा। कोई झाड़-फूँक करने लगा और कोई कुछ पीसकर लगाने लगा। उसे उठाकर हम लोग कुटीपर ले आये थे। खूब घी पिलाया गया। जिसे जो कुछ आता था, सबने प्रयत्न किया।

बराबर लहरें आ रही थीं। मुखसे झाग निकल रहा था। शरीर काला पड़ता जा रहा था। उसकी माँ सिरके केश खोले पछाड़ खा रही थी। उसका क्रंदन देखा नहीं

जाता था। स्वामीजी एक बार आये थे; पर एक दृष्टि देखकर वे फिर चले गये और अपनी चौकीपर जा बैठे।

अन्ततः वही हुआ जो होना था। कालके हाथसे कौन किसको बचा सकता है? लेकिन वह लड़का कितने प्रेमसे, कितनी श्रद्धासे रात-दिन एक करके इनकी सेवा करता था। इन्हींका इकलौता पुत्र था और उसकी मृत्यु-पर भी उन्हें भिक्षा रोकनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। कैसा है वज्रहृदय यह मानव?

[३]

'क्या आपको दुःख भी नहीं होता?' श्रद्धासे नहीं, झुंझलाहटसे मैंने पूछा। अनुरूपकी आज तेरहीं हो चुकी। मैं उधरसे निवृत्त होकर यहाँ आया था। मैं जानता था कि इस समय स्वामीजी अकेले मिलेंगे।

'किसी अभीष्टके नष्ट होनेपर या न मिलनेपर दुःख होता है।' उन्होंने शान्त स्वरमें कहा—'यहाँ तो कोई अभीष्ट रहा ही नहीं!'

'तब क्या साधुओंका हृदय पत्थरका होता है?' मेरा रोष दबा न रह सका।

'नहीं तो, सन्त तो अत्यन्त सदय होते हैं।' उन्होंने मन्द-स्मितमें उत्तर दिया—'करुणा वरुणालयके समीप जाकर किसी भी हृदयमें कठोरता कैसे रह सकती है?'

'अनुरूपके लिए आपको बड़ी दया आयी थी न?' मैंने व्यङ्ग किया। रोषने मर्यादाको विस्मृत कर दिया था।

'आह !' एक बार खुलकर हँस वे। 'तुम्हारी दया शरीर तक सीमित रहती है। अनुरूप मुझे बहुत प्रिय था, पर प्रिय ही तो उस परम प्रियको समर्पित होता है। मैंने कह दिया 'श्री कृष्णार्पणमस्तु' फिर देकर क्या दुःख और इससे बड़ी दया भी क्या होगी कि किसीको उस सर्वेशके चरणमें चढ़ा दिया जाय।' बड़े प्रसन्न हो रहे थे वे।

'आप पहिले तो ऐसे नहीं थे।' यह वेदान्त इस परिस्थितिमें मेरी समझमें आनेवाला नहीं था। स्वामीजी-का हास्य मुझे रुचा नहीं, यह स्पष्ट कह देना चाहिये। मैं जानता था कि उनके साथ तर्क करके जीत नहीं सकूँगा।

'पहिले मैं ऐसा कैसा होता।' उन्होंने कहा—'मुझमें भी कामक्रोधादि दोष थे और मुझे भी संसारके सारे दुःख उसी रूपमें होते थे जैसा सबको होते हैं।'

'फिर अब क्या हो गया।' मैंने उतावलीसे पूछा।

'रात्रिका अन्धकार तभी तक रहता है, जब तक

९

माणिक-दर्शन

सूझहिं रामचरित मनि मानिक।
गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥

'जय जय सीताराम ।'
'जय श्री सीताराम ।'

भूमिमें मस्तक रखकर अयोध्याने उस जटाधारी साधुको प्रणाम किया और संकेत पाकर पासमें फटे टाटके टुकड़ेको खींचकर बैठ गया। धूनी जल रही थी और उसके समीप ही कम्बल बिछा कर उसपर वे भस्मलिप्ताङ्ग साधु बैठे हुए थे। श्रीरामचरित-मानसकी पोथी खोले जुटे थे उसीके साथ।

'आज आप इसी अर्धालीके पीछे क्यों पड़े हैं ?'. साधु ऊपर दी हुई अर्धाली बार-बार दुहरा रहे थे।

'श्रीमानसजीको खोलते ही यही अर्धाली दृष्टिमें आयी और यह प्रश्न उठा कि श्रीरामचरितमानसको गोस्वामीजीने माणिकमणि की उपमा क्यों दी ? उज्ज्वल कोई मणि क्यों नहीं बतलाया ? माणिक तो लाल होता है।' साधुने कहा।

'फिर क्या कोई बात ध्यानमें आयी ?' अयोध्याको पता था कि अपूर्व अर्थ बड़े विलक्षण ढङ्गसे ये प्राप्त कर लेते हैं। इनके अर्थोंका जोड़ मिलना कठिन है।

'तभी तो इसीकी आवृत्ति कर रहा हूँ। बड़ा आनन्द आया है आज इसको पाकर। वैसे तो पता नहीं कितनी बार इसका पाठ कर गया होऊँगा; पर आज किसी बहुत बड़े पुण्यका उदय हुआ था। शङ्का हुई और गुरु-चरणोंका स्मरण किया।' साधु पुलकित हो रहे थे, मानों उन्हें सचमुच माणिक मिल गया हो।

'क्या मैं समाधान सुन सकूँगा ?' अयोध्याने इधर-उधरकी बातोंके बदले कामकी बात की।

'श्रीराम मन्त्र अग्निबीज है। वह समस्त कर्म-जालको भस्मकर देता है और अग्निवर्ण लाल है।' साधुने कहा—'इस वर्णसाम्यके कारण श्रीरामचरित माणिकमणिसे उपमित हुआ। सबमें बहुमूल्य मणि-माणिक ही होता है।'

'मैंने तो सुना है कि लाल।' अयोध्याने कहा।

'दोनों एक ही वस्तु हैं। बड़े माणिकको ही लाल कहते हैं!' साधुने बतलाया—'भगवान् श्रीरामभद्र सूर्यवंशी हैं और सूर्यका रत्न माणिक ही है। इन सबसे बड़ी एक बात है। अनुराग, प्रेम यह राग होनेके कारण अरुण माने जाते हैं। माणिकसे उपमा देकर श्रीगोस्वामीने श्रीरामचरितको प्रेम स्वरूप बतलाया है।'

'यहाँ गुप्त और प्रकट क्यों कहा गया।' अयोध्याने प्रश्न किया।

'देखो न, यहाँ श्रीरामचरितको कितने गुप्त ढङ्गसे प्रेम-स्वरूप कह दिया और सूर्यमणिके दृष्टान्तमें ही यह भी कह दिया कि श्रीरामचरितका अर्थ सूर्यवंशी राघवेन्द्रके चरितसे है। भार्गव राम (परशुराम) अथवा यादव राम (बलराम)के चरितसे नहीं।' साधुने सरल वाणीमें समझाया।

'प्रकटका भी कोई तात्पर्य है?' फिर प्रश्न हुआ।

'है न, कुछ प्रसंग वर्णित नहीं हुए हैं। उनका सङ्केत कर दिया है। लेकिन वे सङ्केत स्पष्ट हैं।' साधुने इस प्रकार कहा मानों अयोध्या भी उतना ही रामायण समझता है, जितना आप।

"जैसे?" अनभिज्ञ और करता भी क्या?

दुइ सुत सुन्दर सीता जाये।
लव-कुस बेद-पुरानन गाये॥

बड़े मधुर स्वरमें झूमते हुये साधुने अर्धाली गाकर कहा। दूरसे ढोल और करतालकी ध्वनि आ रही थी। झांझकी झनकार सुनायी पड़ रही थी। आज मङ्गलवारकी सन्ध्याको ग्रामके लोग कुटीपर आकर श्रीरामायण गान करते हैं। अयोध्याने उठकर टाट बिछाना प्रारम्भ कर दिया।

(२)

'आज तो महाराजकी कथा होगी !' श्रीरामायणको पांच दोहे गाकर बन्द करते हुए एकने प्रस्ताव किया। ढोलक उतारी जा रही थी और झांझ, करतालें लोगोंने एक स्थानपर रख दी थीं। रेहल बन्द कर दिया गया और कपड़ेमें आवेष्टित करके ग्रन्थको सिरसे लगाकर बन्द रेहलके ऊपर ही रख दिया गया।

'हाँ, महाराजजी ! कुछ तो सुनावें ही।' दूसरेने आग्रह किया।

'मैं पढ़ा-लिखा तो हूँ नहीं, क्या कथा सुनाऊँगा ?' साधु सत्य ही कह रहे थे। दूसरी हिन्दी पुस्तक तक उन्होंने पाठशाला देखा था। एक दिन अध्यापकने जो पीठ-पूजा की तो आपने पढ़ाईको प्रणाम कर लिया। सत्सङ्ग तथा अभ्यासने श्रीरामचरित-मानस उन्हें कण्ठ करा दिया था।

'वह चौपाई बीचमें ही रह गयी थी।' अयोध्याने कहा—'उसीका अर्थ हो जाये।' थोड़ेमें ही अयोध्याने पिछली चर्चा सबको सुना दी। सबकी सम्मिलित उत्कण्ठा एकत्र हो गयी। साधुको भला राम-चर्चामें क्या ननु नच ?

दुइ दुइ सुत सब भाइन केरे।

साधुने इस टुकड़ेको कहकर तब प्रारम्भ किया—

पिताके नामसे ही पुत्र पुकारा जाता है। तीनों भाइयोंके लड़कोंको माताओंका न कह कर उन्हींका कहा गया; परन्तु लव-कुशको श्रीरामभद्रका न कहकर माताके नामसे बताया गया।' इतना भेद तो सभीकी समझमें आ गया।

'ये दोनों पुत्र 'सीता-जाये' हैं। इनकी उत्पत्ति, पालन तथा शिक्षणमें पिताका कुछ नहीं। माताने ही इन्हें पूर्णतः अर्थात् जन्म देकर बनाया है।' साधु कहते जा रहे थे—'जो पुत्र पिताके घर उत्पन्न होता है, उसे पिताके नामसे और जो नानाके घर उत्पन्न होता है, उसे माताके नामसे पुकारते हैं।'

'लव-कुश नानाके घर तो हुए नहीं।' एकने शङ्का की।

'जब महर्षि वाल्मीकिने श्रीजनक-नन्दिनीको पुत्री कहकर आश्रममें स्थान दिया तो वह लव-कुशका ननिहाल हो गया, फिर यों भी वाल्मीकिजी श्री विदेहराजके मित्र थे।' शङ्का कोई गम्भीर नहीं थी, अतः समाधान पूरा हो गया।

'फिर क्या हुआ?' प्रश्नकर्ता स्वयं नहीं जानता था कि वह क्या पूछ रहा है, परन्तु इतना वह समझ रहा था कि अर्धालीकी व्याख्या अभी उसकी समझमें नहीं आयी।

'लव-कुशको सीता-जाये कहकर गोस्वामीजीने यह तो बतला दिया कि वे श्रीअधव-धाममें उत्पन्न नहीं हुए

और न वहाँ उनका लालन-पालन तथा शिक्षण हुआ। उनकी उत्पत्तिके समयसे शिक्षण तक माता सीता कहीं अन्यत्र रहीं।' साधुने कहा।

'कहाँ रहीं, यह तो नहीं बतलाया?' अयोध्याने पूछा।

'गोस्वामीजी उस दुःखद प्रसङ्गका वर्णन नहीं करना चाहते थे।' साधु कहते गये—'इसीसे उन्होंने 'बेद-पुरानन गाये' कहकर बतला दिया कि यह प्रसङ्ग इतर शास्त्रीय ग्रन्थोंमें है। वहींसे उसे जान लेना चाहिये!'

'यह तो प्रकट चरित नहीं हुआ?' फिर शङ्काकी गयी।

'प्रकट ही तो है।' साधुने सरलतासे कहा—'पुराणादिमें बड़े विस्तारसे यह चरित वर्णित है और जब वेद-पुराणोंका नाम लेकर कह दिया तो गुप्त क्या रहा?'

'आप इतने अनोखे अर्थ कैसे निकाल लेते हैं?' अयोध्याने प्रश्न तो कर लिया, परन्तु लोगोंकी रुचि अब बैठे रहनेकी थी नहीं। आधेसे अधिक लोग खड़े हो चुके थे। ढोल फिर चढ़ा दी गयी थी और शेष लोगोंने भी करताल, झांझ उठा लिये। 'जय जय सीताराम' की एक साथ ध्वनि लगाकर वे वहाँसे सङ्कीर्तन करते हुए ग्रामकी ओर चल पड़े।

(३)

'सभी शास्त्र ग्रन्थ एक प्रकारसे वेद ही हैं। फिर श्रीरामचरित-मानसकी तो प्रत्येक अर्धाली एक मन्त्र है। सबके चले जानेपर भी अयोध्या बैठा था। बिछे हुए टाट उठाकर समेटकर कुटीके कोनेमें रख दिये गये थे और धूनीके पास साधु बैठे थे। इस एकान्तमें बड़े स्नेहसे समझा रहे थे।

'पढ़नेसे और व्याकरणसे इन ग्रन्थोंका वास्तविक अर्थ समझमें नहीं आता। ऋषि लोग मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। समाधिमें जिस मन्त्रका अर्थ जिस ऋषिपर प्रकट हुआ, वह उसका देखनेवाला कहा गया।' साधु बतला रहे थे।

'यह बात समझमें नहीं आयी।' अयोध्याने कहा।

'तुम तो नित्य रामायण-पाठ करते हो। कभी ऐसा नहीं होता कि मनके खूब एकाग्र होनेपर किसी अर्धालीका विचित्र भाव सहसा हृदयमें प्रकट हो जाय? साधुने पूछा।

'कभी-कभी ऐसा होता तो है। बड़ा आनन्द आता है उस समय, किन्तु वह भाव भी कुछ ही दिनमें भूल जाता है।' अयोध्याने अपने अनुभवकी बात कही।

'उस समय स्फुरित हुआ भाव ही सच्चा अर्थ है। वह अर्थ पढ़ने या व्याकरण से आ नहीं सकता। किसी

शास्त्रीय विशेषतः मानस जैसे मन्त्रात्मक ग्रन्थको तभी समझा जा सकता है, जब उसी प्रकार प्रत्येक पंक्ति हृदयमें स्फुरित हो।' साधुने भली प्रकार दृढ़तापूर्वक समझाया।

'किन्तु वह भाव भी तो ठहरता नहीं।' शङ्का बनी रही।

'एक क्षणकी एकाग्रतासे जो भाव उठा है, वह कैसे ठहरे? हृदयकी मलिनताके कारण वह धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है।' साधुका उत्तर स्पष्ट था।

'तब क्या उपाय?' अयोध्याने निराशप्राय शब्दोंमें पूछा। इस कठिनाईका निवारण उसे दिखायी नहीं देता था।

'जब जन्म-जन्मान्तरके पुण्योंका उदय होता है तो इस ओर रुचि होती है। बड़े सौभाग्यसे जब प्रभुकी महती कृपा होती है तो कहीं सद्गुरु मिलते हैं और उनके श्रीचरणोंमें श्रद्धाका होना तो अत्यन्त ही भाग्योदयसे होता है।' साधुने अपने विश्वासको प्रकट किया। 'श्रीगुरु-चरणोंमें श्रद्धा-विश्वास होनेपर तो स्वतः हृदयका अन्धकार दूर हो जाता है और तब अर्थोंका स्वाभाविक स्फुरण होता है। बिना गुरु-चरणोंके

इन्द्रजाल

जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल वन भूतल भूरि निधान॥

'अलख! खोल दे पलक!' पाउडरके समान श्वेत कोमल भस्मसे सर्वाङ्ग लिप्त मूँगे, रुद्राक्ष तथा स्फटिककी मणियोंकी मालाओंसे विचित्र ढंगसे शृंगार किये, कटिमें बँधे घुँघुरुओंसे झनकार करते, खप्पर लिये, झोलीकी भस्माकी चिटकी लोगोंको बाँटते फटे कानोंमें बड़ी मुद्राएँ पहिने एक नाथपन्थी साधुने द्वारपर आवाज दी।

प्राय: ये साधु भिक्षाके लिए बहुत कम ठहरते हैं। अत: बाबा शङ्करदासजीने कहा—'जल्दीसे साधुको भिक्षा दे दो।' पण्डित हरिनारायणजी स्वयं उठना चाहते थे, किन्तु गुरुके सङ्कोचके कारण ठिठक-से रहे। उन्होंने एक पात्रमें आटा लिया और द्वारपर आ गये।

'तुम बहुत खिन्न दिखायी पड़ते हो।' खप्परमें आटा लेते हुए भी साधुकी दृष्टि पण्डितजीके मुखपर ही थी।

'जी, संसारके जंजाल पीछे लगे रहते हैं।' हरनारायणजीने गोल-मोल उत्तर दिया। अन्तत: एक साधुसे और कहा भी क्या जा सकता है?

'तुम सङ्कोच कर रहे हो।' साधुने खप्परका आटा बड़ी-सी झोलीमें डाल दिया। उस गुदड़ीकी झोलीमें पता नहीं कितनी तहें थी और उनमें क्या-क्या भरा था। साधुकी झोली ही ठहरी।

'महात्माओंसे सङ्कोच काहेका ?' पण्डितजीने सरल भावसे कहा—'किन्तु गृहस्थके पीछे आपत्तियाँ रहती ही हैं, उनको सुनकर आपको भी खेद ही होगा।'

'गुरुकी कृपासे साधु उसे दूर भी तो कर सकता है ?' साधुने हँसते हुए कहा। उन शब्दोंमें अहंकार नहीं था, ऐसा कहना कठिन ही है।

'महापुरुष कर क्या नहीं सकते ?' पण्डितजी एक सत्सङ्गी साधु-सेवी और धार्मिक प्रकृतिके व्यक्ति थे। 'किन्तु सबको अपना-अपना प्रारब्ध भोगना ही चाहिये। तुच्छ नश्वर वस्तुओंके लिए महात्माओंसे प्रार्थना करना मुझे ठीक मार्ग जान नहीं पड़ता।'

'तुम साधुकी शक्तिमें अविश्वास करते हो ?' साधु पढ़ा-लिखा तो ऐसा वैसा ही था। उसने पण्डितजीकी बातोंका अर्थ यही समझा। उसे ऐसा निःस्पृह कभी कोई मिला भी तो नहीं।

'नहीं, भगवन् !' हाथ जोड़कर पण्डितजीने कहा—वे जानते थे कि इस सम्प्रदायमें प्रायः सिद्ध होते हैं। यों भी साधुका अपमान करना उन्हें कहाँ अभीष्ट था ?

'तब तो पूछता हूँ, बताओ !' आज्ञाका स्वर था।

'सरकारी लगान नहीं दे सका हूँ, उसका दावा हो गया है। एक महाजनने अपने ऋणकी डिग्री करा ली है और सुनता हूँ कि आजकलमें ही इस मकानकी कुर्की आने वाली है। घरमें स्त्री तथा दो बच्चे हैं और हाथमें कुछ है नहीं !' पण्डितजीके नेत्रोंसे अश्रुकी बूंदें गिरने लगीं।

'कितनेकी आवश्यकता है तुम्हें ?' साधुने इस प्रकार पूछा, मानो अभी झोलीमें-से निकालकर दे ही देगा।

'सौ सरकारी लगानके और बारह सौ महाजनके दे पाऊँ तो रहनेके लिए घर और खेत बच जावे। पेटके लिए भगवान कुछ करेंगे ही और यों भूखों भी तो दो-चार दिन रहा ही जा सकता है।' अश्रु पोंछते हुए उत्तर मिला।

'डेढ़ हजार, अच्छा। चलो भीतर चलें ?' साधुने उत्तरकी अपेक्षा नहीं की। वह दरवाजेसे भीतर मकानमें चल पड़ा और पण्डितजी चुपचाप पीछे हो लिये।

[२]

'यह मेरे गुरुदेवका प्रसाद है।' साधुने झोलीमें-से एक पीतलकी डिबिया निकाली। 'उन्होंने मुझपर बहुत प्रसन्न होकर मुझे दिया था और इससे तुम प्रारब्धके बनने बिगड़नेका खेल देख सकोगे !'

'इसमें है क्या ?' बाबा शङ्करदासने पूछा।

'श्मशानमें जाकर विधिपूर्वक शव-सिद्ध करके प्रस्तुत किया हुआ अंजन।' साधुने बतलाया—'यह साधन बड़ा भयङ्कर है और वहाँ अनेक प्रकारके भय उपस्थित होते हैं। यदि तनिक भी डरा तो मृत्यु या पागलपन निश्चित है।'

'तुमारे गुरुदेवने इसे स्वतः सिद्ध किया था ?' बाबाजी-को कोई कुतूहल नहीं हुआ और पंडितजी भी शांत थे।

'वे सिद्ध महापुरुष थे। उनके अतिरिक्त इतना भयङ्कर साधन और कौन करेगा ?' साधु सगर्व कह रहा था—'इसमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। बड़ी बुद्धिमत्तासे यह होता है। तनिक भूलसे प्राण सङ्कटमें पड़ सकते हैं।'

'लोगोंकी रुचि ही विचित्र है।' बाबाजीने कहा—'देखा जाता है कि लोग केवल मनोरञ्जनके लिए हिमालय चढ़ते हैं, शेरसे सामना करते हैं तथा और भी अनेक भयङ्कर कर्म करते हैं, अतः यदि कुतूहलके वशीभूत होकर तुम्हारे गुरुदेवने इसे सिद्ध किया तो कोई आश्चर्य नहीं।'

'और क्या, वे सिद्ध महापुरुष थे। उनको भला इसकी क्या आवश्यकता थी ?' साधुने कहा—'उन्होंने तो खेल जैसा किया। मौज आयी और सिद्ध कर डाला।'

'इससे तुम क्या करते हो ?' बाबाजीने पूछा।

'अभी तक तो कुछ किया नहीं है, आज करना है।' साधुने डिबिया खोली उसमें काला-काला अंजन था। अपनी दोनों आँखोंमें लगानेके उपरान्त उसने बाबाजीको भी लगाना चाहा। उन्होंने अस्वीकार करते हुए पण्डित हरनारायणजीकी ओर संकेत किया।

'लगा लो' कोई हानि नहीं।' पण्डितजी लगाना नहीं चाहते थे; पर गुरुका आदेश समझकर उन्होंने दूसरी बार आपत्ति नहीं की।

यह क्या? कहीं दो हाथ नीचे, कहीं दस हाथ पृथ्वीमें चारों ओर द्रव्य ही गड़ा है। स्वर्णमुद्राएँ हैं और कहीं रजत। कहीं सोनेकी ईंटें हैं और कही चांदीके पात्र। आभूषण और रत्नोंकी ढेरी है स्थान-स्थानपर। कहीं द्रव्य खुला हुआ है, कहीं सन्दूकोंमें है, कहीं तहखानेमें है, कहीं मिट्टीके पात्रोंमें है और कहीं ताम्र या पीतलके कलशे भरे हुए हैं बन्द पात्र भी बहुतेरे हैं। दो हाथ, चार हाथ अन्तरसे सम्पूर्ण पृथ्वी जो नेत्रोंके नीचे आती है, सब कहीं द्रव्य ही द्रव्य भरा हुआ है।

'इसे केवल तुम खोद लो।' साधुने एक लोटे-जैसे ताम्रपात्रको जो दो हाथ नीचे था, संकेत करते हुए कहा। वह स्वर्ण-मुद्राओंसे भरा हुआ था।

पण्डितजीने बाबाजीकी ओर देखा। वे मुस्करा रहे थे। यों उन्होंने मना नहीं किया। कुदाल मँगायी गयी और पण्डितजीने स्वयं हाथ लगाया। दो हाथ खोदनेमें लगती कितनी कितनी देर है? गड्ढा खुदकर प्रस्तुत हो गया।

लोटा कहाँ गया ? वह तो खोदी हुई मिट्टीके नीचे है। मिट्टी हटायी गयी, लोटा वहाँ भी नहीं। वह चार हाथ नीचे भूमिमें दिखायो पड़ा। जैसे उसमें जीवन आ गया हो और वह इन लोगोंसे वैसे ही भाग रहा हो जैसे शिकारीसे पक्षी। दो तीन हाथ खोदे गये, शरीर स्वेदसे लथपथ हो गया। कुदाली फेंककर पण्डितजी बैठ गये। साधुका मुख सूख गया। बाबाजी हँस रहे थे।

[३]

'तुम्हारे गुरुने क्या यह अंजन इसलिए दिया था कि तुम गड़े कोष खोद लो ?' बाबाजीने पूछा !

'प्रारब्धका खेल देखनेको उन्होंने कहा था।' साधु समझ गया था कि गुरुके वाक्य समझनेमें उससे कहीं भूल हुई है।

'विश्व-नियन्ताके खजानेमें चोरी नहीं चल सकती।' बाबाजीने बताया—'यह अपार कोष सृष्टिकी आदिसे भूमिसात् होता आया है। जिसका प्रारब्ध समाप्त हुआ, वे मिट गये। उनके कोषपर मिट्टी पड़ गयी अर्थात् विश्व संचालकने उसे ढक दिया। अब जिसका प्रारब्ध जिस द्रव्यको प्राप्त करनेका जब होगा, उसी समय उसी व्यक्तिको यह मिलेगा। इस प्रकार खोदनेसे तो चारोंके प्रयत्नका दण्ड मिला करता है। तुम्हें दण्ड नहीं मिला, यही बहुत समझो ! द्रव्य तो हटा दिया ही जायगा। इन्हीं द्रव्योंकी रक्षाके लिए तो प्रेतोंकी एक विशेष योनि

यक्ष है। वे उसकी रक्षा करते हैं और जिसके प्रारब्धमें वह है, उसके आनेपर देकर छुट्टी पाते हैं।'

'तब इस अंजनसे लाभ ?' साधुने पूछा।

'कौतुक !' बाबाजीने बताया—''इतना द्रव्य पृथ्वीमें पड़ा है। इतनी पृथ्वी खोदी जाती है, पर वह मिलता नहीं। लोग दीन-दुःखी हैं। प्रारब्ध समाप्त होते ही वह भूमिमें दबा दिया जाता है। अधिकारीको ही मिलता है। यह सब सर्वेशका कौतुक है। इन्द्रजाल है। इसे देखो और उसकी महिमाका स्मरण करो। इस कौतुकको देखनेके लिए ही यह है। यही बात तुम्हारे गुरुने तुमसे भी कही भी थी।'

'व्यर्थ ही मैंने इसे लिया !' झुँझलाकर साधुने वह डिबिया सामनेकी धूनीमें डाल दी।

'यह कौतूहलपर निर्भर है।' बाबाजी कह रहे थे— 'तमाशे यदि हमारे लिए व्यर्थ हैं तो बच्चों या देखनेकी रुचि रखने वालोंके लिए तो व्यर्थ नहीं। हाँ, इसे लेनेके बदले यदि तुम श्रीगुरुदेवके चरणोंको ही अंतरमें लेते तो इस द्रव्यके बदले तुम्हें चारों ओर भगवच्चरित चिन्तामणि दिखायी पड़ा करता और तब यों पश्चाताप नहीं करना होता।'

पण्डितजीने गुरुदेवके चरणोंपर मस्तक रखा। उसे वे अपने अश्रुओंसे भिगा रहे थे और दो सहस्रका बीमा लिए पोस्टमैन उनका द्वार खटखटा रहा था। एक सम्पन्न यजमानने उनके पिछले वर्ष किये अनुष्ठानका फल प्राप्तकर लिया था और उसीकी दक्षिणा आयी थी।

९१

दिव्य दृष्टि-दायिनी

श्री गुरु-पद-नख-मनिगन-जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥

यौवनकी उमङ्ग, रक्तकी उष्णता, आपत्तियोंकी आशङ्काको स्वीकार ही नहीं करती। लोगोंने कहा—'इस पहाड़ीपर कोई आता-जाता नहीं है। आप ऊपर जानेका साहस न करें।'

'बिना खतरेकी सम्भावना उठाये यात्राका आनन्द क्या?' अपने साथियोंसे उमेशने कहा। साथी भी सब नयी उम्रके थे और उन्हें अपने अग्रणीपर पूरा विश्वास था। सभी इस यात्राके कुतूहलसे आक्रांत थे।

'हम अभी दो घण्टेमें लौट आवेंगे।' लोगोंमें कहकर वह चार युवकोंकी टोली पहाड़ीके नीचेकी सघन झाड़ियोंमें प्रविष्ट हो गयी। घिरे हुए बादलों एवं झड़ते सीकरोंकी उपेक्षा उन्होंने लोगोंकी डरावनी बातोंके समान कर दिया था।

वर्षाके दिन—मार्गमें कीचड़ और जल भरा था, अत: नंगे पैर ही चलकर ये चारों युवक छ: मील दूरसे यहाँ पहुँचे थे। भाद्रपदकी घोर वर्षामें उन्हें पहाड़

चढ़नेकी सूझी थी। ग्रामीणोंने जब उनकी बात सुनी, हँसकर कह दिया—'यह बड़े आदमियोंकी सनक है।'

पहाड़ी सीधी खड़ी है। इधरके लोग उसे डोंगरी कहते हैं। सम्भवतः कठिन चढ़ायीके कारण उसकी ठेठ चोटी तक लकड़िहारे भी नहीं पहुँचते। एक मील खड़ी, चौपहल और ऊपर कठिनतासे तीन चार एकड़ चौड़ी होगी। एक प्राकृतिक मीनार-जैसी।

पारिजात फूलने लगा था। भीनी सुगन्धि आरही थी। गुलाबी ऐलके पुष्प देखनेमें बड़े सुन्दर लगते थे, किन्तु ऐलके काँटे? पूरी पहाड़ी इस कंटीली लतासे ढकी थी। खैरका जंगल था और थूहर तथा सेमरके पेड़ भी कम न थे। पहाड़ी बाँसोंके झुरमुट इन कंटकोंमें निर्बाध खड़े थे।

'गुलोंसे खार अच्छे हैं जो दामन खींच लेते हैं।'

काश, कविको इन 'चमड़ी चींथ लेनेवाले खारों' का पता होता! साथमें एक कुल्हाड़ी थी और तीन व्यक्ति छोड़ी छड़ियाँ लिये थे। ये छड़ियाँ पहाड़ चढ़ानेमें टेक लगानेके काम आती हैं और उतरते समय तो इनकी अनिवार्य आवश्यकता होती है।

झाड़ियाँ बढ़ गयी थीं। मार्ग आच्छन्न हो गया था। वैसे कोई मार्ग था भी नहीं। कमर-भर ऊँची घास लगी थी। पैरोंमें चुभे काँटे उन्हें बराबर पड़ने नहीं दे रहे थे। ऐलके काँटोंने न केवल दामन खींचा, अपितु भली

प्रकार वे कमीज तथा धोतियाँ फाड़ने एवं पैर और हाथके रक्तसे रञ्जित होनेमें लगे हुए थे। ऊपरसे वर्षा आ गयी। इन्द्रदेव बड़ी-बड़ी बूँदोंमें पड़ापड़ पुष्प-वृष्टि करने लगे। आपाद मस्तक सबने स्नान कर लिया।

घासोंको कुचलते, कोई लगे पाषाणोंपर किसी प्रकार हाथ-पैरके बल कूदकर, बाँसोंकी जड़ों तथा कभी-कभी हरसिंगारकी मोटी डालको पकड़कर वे चढ़ रहे थे। छड़ियोंसे यथासम्भव ऐलकी लताओंको हटाकर निकलना था। कभी-कभी कुल्हाड़ी बज उठती थी।

लगभग ऊपर पहुँचकर ही सिर उठानेका अवकाश मिला। एक-दो उदुम्बरके वृक्ष और फिर शिखरपर। गीले वस्त्रोंके भीतर भी स्वेद-प्रवाह चल रहा था। ऊपर खैरके झुरमुट ही मिले। एक सुदीर्घ शिला बाहरको निकली थी। ऊपर बैठते ही सब परिश्रम सार्थक हो गया। आनन्दके मारे सब उल्लसित हो उठे।

पूरी पहाड़ी चरणोंके नीचे आ गयी। श्वेत मूषकसे नीचेके पशु तथा बड़े-बड़े अजगरोंसे जल पूर्ण नाले बिखरे थे। श्वेतघन कभी चरणोंके नीचे और कभी उनको अपने भीतर करके आते जा रहे थे। अपूर्व था वह दृश्य। किन्तु क्या चढ़ जानेके समान उतर आना भी सरल है?

'यहाँ चार बजे से ही एक काला चीता लगता है।' नीचेके लोगोंने बतलाया था। एक खोह थी खूब लम्बी

और उसके द्वारपर कुछ सूखी हड्डियाँ पड़ी थीं। 'चिता मिल जाय तो जङ्गलकी यात्रा सर्वाङ्ग पूर्ण हो जाय!' उमेशने कहा। वे लड़के डरे नहीं। उन्होंने खोहमें पत्थर मारे, उसके द्वारको छड़ियोंसे खटखटाया। वे नहीं जानते थे कि इस कुल्हाड़ी और छड़ियोंसे चीतेका क्या बिगड़ेगा। जङ्गलमें उन्मुक्त विचरते चीतेको उनमें-से किसीने कदाचित् ही देखा हो। यदि उसमें चीता था, तो वह उनके साहसके आगे ही सम्भवतः मस्तक झुकाकर भीतर मौन बना रहा।

जिस मार्गसे गये थे, वह भी खो चुका था। कोई अधलगी चट्टानें पद-पदपर फिसलनेका भय उपस्थित कर रही थीं। एक पत्थर पैरसे लुढ़का तो नीचे (आगे) चलनेवालेको भयङ्कर चोट लगेगी। फिसलनेपर हड्डीका भी पता न लगेगा। बैठ कर, हाथोंके सहारे धीरे-धीरे उतर रहे थे।

इधरके जङ्गलोंमें सुअर बहुत होते हैं। स्थान-स्थान-पर उन्होंने घासें खोदकर बैठनेकी भूमि बनायी थी। वर्षासे गीली भूमिमें उनके ताजे पद-चिह्न बने थे। 'सम्भवतः सुअरोंका झुण्ड आगे ही गया है!' एकने कहा—स्मरण हो आया 'दो शेरोंके बीचमें वाराह जल पी सकता है, किन्तु दो वाराहोंके बीच शेर जल नहीं पी सकता।' सो भी दलमें बच्चे और मादाके होनेपर दलपति और भयानक हो उठता है। चीतेका भले भय न लगा हो, लेकिन सुअरोंके पद-चिह्न भीत कर रहे थे।

'इन बाँसोंके झुरमुटोंसे शीघ्र छुटकारा हो तो अच्छा !' उमेशने सुन रखा था कि रीछ इन बाँसोंके झुरमुटमें रहते हैं। बघेलखण्डके पहाड़ोंमें रीछ हैं या नहीं—यह उसे ज्ञात नहीं था। इधर खोहें भी बराबर मिल रही थीं और बाँस घने होते जा रहे थे। वाराहोंके चिह्न अब भी खुले स्थानोंमें मिल जाते थे।

'यदि पर्वतपर ही अन्धेरा हो जाय !' एकने सहज भावसे ही पूछ दिया।

'तब तो फिसलकर गिरनेसे अच्छा होगा यहीं कहीं रात्रि व्यतीत करना !' उमेशने कहा—'हमारे कपड़े सूख ही गये हैं, किसी खोहमें घुसकर बैठ रहेंगे !'

यदि उसमें से चीता निकल पड़े ?' एकने शङ्का की।

'इन वाराहों, रीछों तथा इस खड़ी ढालपर चीतेके मिलनेसे अच्छा है, वह खोहमें मिले !' उमेशने कहा—'वहाँ वह भी तो उछल-कूद नहीं सकेगा ?

सबने अनुमोदन किया। वैसे गति सबकी बढ़ गयी थी। श्रान्त पद जितनी तीव्रतासे उतर सकते थे, प्रयत्न हो रहा था। यों खड़ी उतारपर हाथोंके सहारे इस प्रकार उतरना था, जैसे कुएँमें रस्सी पकड़कर उतरना हो।

'हे भगवान् !' उमेशने दीर्घ श्वांस ली। पेड़ोंकी सघनता कम हो गयी थी। सबने नीचे देखा—अभी पृथ्वी दूर दिखायी पड़ती थी। आधी उतराई शेष थी। ऊपर आकाशपर दृष्टि डाली—पश्चिममें अरुणिमा बिखर गयी

थी। भगवान् दिवाकरका बिम्ब लोहित वर्ण प्रभाहीन
हो चला था। बड़ा मनोहर दृश्य था; किन्तु उस
मनोहरताको देखनेके बदले आनेवाला अन्धकार नेत्रोंके
सम्मुख साकार हो उठा।

'ओह, तुम लोग सकुशल लौट आये, बड़ा अच्छा
हुआ!' साधुने कहा—'मैं तुम लोगोंके लिए चिन्ता कर
रहा था। वह सुनो, चीता दहाड़ रहा है!' सचमुच
जङ्गलमें एक भयावनी आवाज गूँज रही थी।

पहाड़ीके नीचे, यों कहना चाहिये कि दो पहाड़ियों
मध्यमें एक मन्दिर है श्रवणनाथका। एक कच्च
चहार-दीवारी है उसके चारों ओर। एक कच्ची कु
और एक रसोई घरका छप्पर। बीच तालाब है। ए
वैष्णव साधु वहाँ रहते हैं।

आटा, नमक, चीनी और घी साथ था। भिण्ड
तोड़कर रोटी शाक बनानेका आयोजन चलने लगा था
साधुको एक सप्ताहसे मलेरिया ज्वर आ रहा था। उनके
लिए नमक बारीक पीसकर पूरे एक छटांक एक तवेप
उनकी धूनीपर ही रमेशने रख दिया था। कालिमा आ
ही आधा नमक गर्म जलमें अभी और आधा प्रातः पिल
देना होगा और ज्वर ऐसा भाग जायगा जैसे गधे
सिरसे सींग। नमक भुन रहा था और बातें हो रहीं थीं

'सचमुच जब अन्धेरा बढ़ने लगा तो मैं बहुत
घबड़ा गया।' उमेशने कहा—'मैं जानता था कि स

मेरी ही भाँति घबड़ा गये हैं, किन्तु सभी बड़े साहसकी बातें कर रहे थे और इस प्रकार अपनी आन्तरिक आकुलता छिपानेका यत्न कर रहे थे कि इस प्रकार दिखावटी ही सही, साहस तो है। यदि एक आकुलता प्रकट करेगा तो दूसरे और भी हतोत्साह हो उठेंगे और फिर इस भङ्कर पथपर चलना सर्वथा असम्भव हो जायगा। चलना था; क्योंकि खोहमें घुसकर रहनेकी बात मुखसे कहना जितना सरल था, कार्यरूपमें परिणित करना नहीं। फिर अब खोहें भी तो ऊपर छूट चुकी थीं और चढ़नेका साहस अब किसमें था?'

'तुम लोगोंने अनुचित साहस किया था?' साधुने कहा।

'अवश्य ही हमारा अनुमान ठीक नहीं था।' उमेशने कहा—'इस पहाड़ीके लिए अधिक समय चाहिये था। हम देरसे चढ़ने लगे थे।'

'भला ऐसे जङ्गलमें भटकनेकी आवश्यकता ही क्या?' साधुको लड़कोंकी यह सनक पसन्द नहीं थी। वैसे वे भी मान चुके थे कि इतना साहस उनमें नहीं है।

'पेड़ घने हो गये, झाड़ियोंमें सघनताने मार्ग रुद्ध कर दिया। अन्धकार बढ़ता जाता था और हमें अब कुछ हाथ आगेकी वस्तु स्पष्ट दिखायी नहीं पड़ती थी।' उमेशने साधुकी आपत्तिका उत्तर देना उचित नहीं समझा। वह अपने प्रसङ्गपर कहता चला—'हमारा

सङ्कट बढ़ गया ! मैं ही इन लोगोंको कहकर साथ ले आया हूँ, अतः मेरा उत्तरदायित्व मुझे और भी आकुल करने लगा ।'

'भैया, अब कभी ऐसी यात्राके फेरमें न पड़ना ।' साधुने सहानुभूति पूर्ण स्वरमें कहा—'आज तो भगवानने ही तुम लोगोंकी रक्षाकी है ।'

'हाँ, रक्षा तो भगवान्‌ने ही की है ।' उमेशका स्वर स्वर भी श्रद्धार्द्र हो गया । 'अन्ततः मैंने अपने पैर रोके, एक क्षणके लिए नेत्र बन्द किये और बड़ी कातरतासे श्रीमहाराजजी (गुरुदेव) के चरणोंका स्मरण किया ।' सहसा आगे चलनेवाले-ने कहा—'नाला मिल गया । ऊपरसे नाला गिरता है । उसमें पेड़ भी थोड़े हैं, झाड़ियोंके न रहनेसे प्रकाश भी कुछ था ! हम पत्थरोंपर-से जो बराबर धुलते रहनेसे साफ थे, काई नहीं थी सरलतासे उतर आये ।'

'ओह, श्रीगुरु चरणोंका स्मरण !' साधुने विभोर होकर कहा—'उन चरणोंकी नखोंकी दिव्य-ज्योतिके स्मरणसे तो भवाटवीमें भी मार्ग मिल जाता है, तुम्हें पर्वतमें मिल गया तो क्या आश्चर्य ?'